राग-वैराग-अनुराग

(भाग – 1)

आज आप परम जिज्ञासुओं की विशिष्ट उपस्थिति में इष्ट-कृपा से परम दुर्लभ एवं अत्यधिक गम्भीर व महत्त्वपूर्ण विषय प्रस्तुत करूँगा। विषय है–**'राग-वैराग और अनुराग'।** आपकी एकाग्रता वांछनीय है। वह सच्चिदानंद, पंच-प्राणों का पुंज ईश्वर स्वयं में **प्रेम'** है। वस्तुतः वह प्राण-पुंज, प्रेम-पुंज है, प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार **प्रेम** में करता है। ईश्वरीय प्रेम और मानवीय प्रेम में आकाश-पाताल का अन्तर है, दोनों का परस्पर कोई मेल नहीं है। मानवीय प्रेम ही **राग** है, जो स्वयं को देह समझने और देह को अपनी मानने के कारण हुए **मोह** का उत्पाद है।

ईश्वर का स्वरूप **सद्, चेतन व आनन्द** है और वह प्राण-पुंज **तत्त्वातीत** है। जब भी हम किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था अथवा कुछ भी को परखते हैं, तो सापेक्षिक आधार पर ही उसके वैशिष्ट्य का अंकन करते हैं। हमारे पास एक शून्य स्तर या आधार होना चाहिए। ईश्वर अनादि, अनन्त व अनिर्वचनीय है। उसके बारे में बोला, पढ़ा, सुना या लिखा नहीं जा सकता, वह मन-बुद्धि से परे का विषय है। लेकिन फिर भी हम उसके बारे में बोलते हैं, पढ़ते हैं, सुनते हैं और लिखते हैं, जबकि **ईश्वर वह विषय है, जहाँ शब्द चलते ही नहीं।**

किसी भी शब्द का आधार या अस्तित्व मौन है। यह शमशान का निस्तेज या निष्प्राण मौन नहीं है, बल्कि पंच-प्राणों के पुंज शिव का प्राणमय,

जीवन्त व चेतन मौन है। इस निःशब्दता, ख़ामोशी या मूकता से **'ॐ'** शब्द प्रकट होता है। उस एक **'ॐ'** शब्द से पंच-महाभूतों में असंख्य महाब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं और भस्मी में लीन हो जाते हैं। **तो शब्द का आधार या अस्तित्व चेतन मौन है।** वह निराकार सत्ता, पंच-प्राणों का पुंज ईश्वर, सद्‌गुरु के रूप में अपने शिष्य के कल्याण हेतु साकार-देह धारण करता है। सद्‌गुरु का प्राणमय, चेतन व जीवन्त मौन सद्‌शिष्य की जिज्ञासानुसार श्रीमुख से निःसृत शाश्वत् महा-अक्षरों द्वारा शब्द बनकर **(शब्द-ब्रह्म)** मुखर होता है। यह है **प्रस्तुतिकरण** अथवा **Projectivity.** सद्‌शिष्य अपनी श्रद्धानुसार उन शब्दों का श्रवण कर विचार, चिन्तन, मनन व नित्याध्यासन द्वारा अधिगृहीत करता है, यह है **प्रतिग्रहण** अथवा **Receptivity.** इस प्रकरण में सबसे महत्त्वपूर्ण है–**प्रभावात्मकता अथवा Effectivity.** यह पूर्णतः सद्‌गुरु की कृपा पर ही आश्रित है। शिष्य की मायिक बुद्धि व मानवीय-मन द्वारा विचार, चिन्तन, मनन व नित्याध्यासन से रूपाकार हुआ वह **ब्रह्ममय-शब्द, भ्रमयुक्त** हो जाता है, उसमें कुछ मायिक प्रदूषण आ जाता है। सद्‌गुरु-कृपा में हुई Processing के बिना वह भ्रम नहीं हटता, उसका निवारण सद्‌गुरु-कृपा में हुए प्रसंस्करण (Processing) द्वारा ही होता है। तभी उनका अनुकूल व अपेक्षित प्रभाव होता है।

प्रश्न उठता है, कृपा कैसे होती है? **कृपा तब होती है, जब सद्‌शिष्य तन, मन, धन से पूर्णतः सद्‌गुरु के चरणों में समर्पित हो जाता है।** आध्यात्मिक ज्ञान अन्य भौतिक विद्याओं की भाँति पढ़कर रटने का विषय नहीं है। यह कृपा-साध्य है और सोच-समझ से परे है। इसके लिए सद्‌शिष्य की एक ऐसी मानसिक स्थिति अनिवार्य है, जिसमें विचार-चिंतन-मनन व नित्याध्यासन के बाद **उसके पल्ले यह पड़ जाए कि यह उसकी समझ का विषय नहीं है।** वह अपना समस्त अहं त्याग कर पूर्णतः आश्वस्त हो जाए, कि यह मेरी इस बुद्धि की समझ से परे का विषय है। सद्‌गुरु की कृपा के बिना मुझे कोई अनुभूति नहीं हो सकती। तभी सद्‌गुरु-कृपा में हुए प्रसंस्करण (Processing) से श्रीमुख से निःसृत उन शाश्वत् ब्रह्ममय शब्दों

में आया भ्रम दूर हो जाता है। उसकी बुद्धि निर्मल तथा प्रज्ञा, मेधा, विवेक व ऋतम्भरा से युक्त हो ईश्वरीय चेतना बन जाती है और उसका मन ईश्वरीय हो जाता है। समस्त भ्रम दूर होने पर शेष रह जाता है, **शब्द-ब्रह्म** जो पुनः मौन में समाहित हो जाता है। **इस प्रकार यह मौन से मौन की यात्रा है।** जब वे शब्द अनुभूति में आते हैं, तो अपना रूप खो देते हैं। वे ब्रह्ममय शब्द निःशब्द होकर, मानस का अंग बन पंच-प्राणों के पुंज, शिव के विशुद्ध जीवन्त मौन में लीन हो जाते हैं। **यह मौन ही शिष्य की अपनी धरोहर है, जो आवश्यकतानुसार मुखरित हो देश-काल, परिस्थिति के अनुसार पुनः शाश्वत् अक्षरों के समूह द्वारा शब्द बनकर प्रकट होता है। यदि उसका जन्म बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात या तमिलनाडू कहीं भी हुआ है, तो उसी मौन से शब्द उसकी अपनी भाषा में मुखरित होंगे।** अध्यात्म भारत का ही उत्पाद है। समस्त शास्त्रों, वेदों, पुराणों, उपनिषदों की रचना उस मौन से निःसृत शब्दों द्वारा हुई, जिसे युगों पूर्व हमारे मनीषियों व साधकों ने समाधिस्थ होकर ग्रहण किया और उन्हीं की कृपा से लिखा अथवा अपने शिष्यों को श्रुति-ज्ञान के रूप में दिया।

वह देवाधिदेव महादेव प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पंच-प्राणों की शक्ति का संघनित, अखण्ड, परम स्थिर, अविरल, अकाट्य, अनादि, अनंत, लिंगाकार, दिव्य-ज्योतिर्लिंग है, हर-हर युक्त अग्नि-शिखा है। इसमें प्रत्येक प्राण, पाँचों प्राणों को स्वयं में समाहित किए है। **यह अग्नि-शिखा स्वयं में परम सौन्दर्यवान, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग्य की निधि है।** इसी ज्योतिर्लिंग का प्रकाट्य पाँच महातत्त्वों पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि के रूप में होता है। यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड इन पंच-महाभूतों से निर्मित विभिन्न रूपों में उसी प्राण-पुंज की प्रतिच्छाया (Projection) है। **जिस प्रकार उस प्राण-पुंज में प्रत्येक प्राण पाँचों प्राणों को स्वयं में समाहित किए है, उसी प्रकार पंच-महाभूतों में प्रत्येक तत्त्व पाँचों तत्त्वों का सम्मिश्रण है।** ये एक दूसरे से इतने गुँथे-मुथे हैं, कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। यह बात पृथक् है, कि एक तत्त्व का प्रकाट्य

हो जाए, दूसरे छिपे रहें। अतः जो रहस्य और महत्त्व पंच-प्राणों की ज्योति में है, वही उसके प्रकाट्य में भी है।

मानव-देह भी इन्हीं निराकार एवं सहज जड़ पाँच महातत्त्वों का साकार समागम है, जिसका क्रियान्वयन पंच-प्राणों की शक्ति द्वारा होता है। पाँच प्राणों का यह विशेष गुण है, कि जहाँ इनका प्रतिबिम्ब भी है, वहाँ पर पाँचों सहज जड़ तत्त्व प्रकट होकर चेतन व सक्रिय हो जाते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में इसे **चिदाभास** कहते हैं। अतः मानव-देह में पंच-महाभूत भी हैं और पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया भी है। जब पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया हट जाती है, तो देह निष्प्राण हो जाती है। जिस प्राण शक्ति-पुंज ने पंच-महातत्त्वों के समागम से प्राण दिए थे, वही प्राण निकालती भी है और वही प्राण-शक्ति पुनः पंच-तत्त्वों के संगम मानव-देह को पंच-तत्त्वों में विलीन कर देती है, जिसमें से तत्वातीत तत्त्व भस्मी रूप में शेष रह जाता है। यह निर्माण, पालन व संहार उस प्राण-पुंज, शिव-शक्ति-स्वरूप ईश्वर की क्रीड़ा है, खेल है। **निर्वाण** की स्थिति निर्माण, पालन व संहार से पृथक् है। उसमें ज्योति में ज्योति समा जाती है और पुनः निर्माण नहीं होता।

जीवात्मा उसी प्राण-पुंज ज्योतिर्लिंग, शिव-शक्ति का मानस-पुत्र है और उसी की भाँति तत्त्वातीत, सच्चिदानंद और छः ईश्वरीय विभूतियों (सौन्दर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, ख्याति एवं वैराग) का आगार है। उसे पंच-महाभूतों से निर्मित आदि-अन्त वाली मानव-देह दी गई, ताकि वह आदि-अन्त वाली पंच-तत्त्वों में गुँथी साकार मानव-देह का अवलम्बन लेकर अपने स्वरूप के अनादि, अनंत, अनिर्वचनीय एवं तत्त्वातीत निराकार ईश्वरत्व की उद्घोषणा कर सके। ईश्वर को निराकार **अनादि-अनंत व अनिर्वचनीय बताने वाला साकार, आदि-अन्त वाला, वचन बोलने वाला ही तो होगा। सापेक्षिक आधार पर ही उसके वैशिष्ट्य का वर्णन होगा। जीवात्मा एक ही है, क्योंकि परमात्मा भी एक है और जीव असंख्य हैं।** यह समस्त अनेकरूपता और विभाजन मात्र बोल-चाल के लिए माया में है। असंख्य जीवों का बहुरंगी खेल प्राण-पुंज शिव-शक्ति की क्रीड़ा है—आनन्द

में, आनन्द से, आनन्द के लिए। सृष्टि जो मात्र पंच-प्राण-पुंज ईश्वर की प्रतिच्छाया (Projection) है, माया है, केवल प्रकाट्य है। उस निराकार प्राण-पुंज ने समस्त साकार माया की रचना द्वैत में, खेल के लिए की हैः–

''एक ज्योति तो सब जग उपज्या, क्या चंगे क्या मंदे।''

खेल के लिए वह पल भर में राजा को रंक और भिखारी को शहंशाह बना देता है। **ईश्वर एक है तो जीवात्मा भी एक है, जो इस चराचर मायिक सृष्टि के विभिन्न नाम-रूप धारी प्राणियों में एक जीव के नाम-रूप की देह के रूप में समस्त मायिक सृष्टि का आधार है।** जीवात्मा को मानव-देह दी गई है, जिसका न तो वह निर्माता है, न पालनकर्ता और न ही संहारकर्ता है। यह मानव-देह पंच-प्राण-पुंज ज्योति स्वरूप ईश्वर की प्रतिच्छाया पंच-तत्त्वों से निर्मित थी और काल-बद्ध तथा आदि-अन्त से युक्त थी। **पंच-प्राणों के प्रकाट्य पंच-तत्त्वों का पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में मानव के चेहरे पर प्रतिनिधित्व है।** नेत्र अग्नि का, कान आकाश का, जिह्वा जल का, नाक पृथ्वी का तथा त्वचा वायु का प्रतिनिधित्व करते हैं। **इस साकार दृश्यमान पंच-महाभूतों की मायिक मानव-देह का अवलम्बन लेकर, इन ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः देख, सुन, चख, सूंघ और स्पर्श कर, समस्त सृष्टि का प्रतिग्रहण करते हुए जीवात्मा को अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय, अनादि, अनंत, इन्द्रियातीत, अगोचर, मन-बुद्धि से परे, कालातीत, देशातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, गुणातीत, लिंगातीत, मायातीत व तत्त्वातीत अपने स्वरूप सच्चिदानंद ईश्वर की मात्र वाह-वाह करनी थी एवं उसे अनुभव करना था।**

ईश्वरीय **आनन्द** का स्रोत मानवीय-मन है। ईश्वरीय **चेतना** से युक्त मानव-बुद्धि है। दोनों के पारस्परिक सामंजस्य से इसकी इन्द्रियों द्वारा प्रकट होने वाले कृत्य ईश्वरीय **सद्** का रूप थे और **स्वयं में मानव-देह सच्चिदानंद की परम पावन त्रिवेणी व तीर्थराज प्रयाग थी।** मानव-शिशु जब पृथ्वी पर अवतरित हुआ तो वह स्वयं में मात्र एक चेतना थी। कालान्तर में जब उसे एक नाम दिया गया और वह अपने रूप से परिचित हुआ तो इस

विशुद्ध चेतना को उस नाम-रूप की चेतना में देहाध्यास हो गया। वह स्वयं को मूलतः देह ही समझने लगी, जिसके बारे में न तो यह कुछ जानती थी और जो इसकी थी ही नहीं। **चेतना, नाम-रूप की चेतना में संकुचित होकर अवचेतना बन गई। उसके बाद उसके द्वारा जो कुछ भी हुआ, अवचेतना में ही हुआ।** यह भूल हम सबसे हुई। जाने-अनजाने में, जानबूझ कर, मूर्खतावश या चतुरतावश सभी ने नाम-रूप की चेतनता में तथाकथित होश आते ही (क्योंकि वह होश अवचेतना का था) देह पर अनधिकृत कब्ज़ा कर लिया। जो वस्तु हमारी थी ही नहीं, उसे गैरकानूनी रूप से हथिया लिया। दैहिक अवचेतना परिवार, कुटुम्ब, मोहल्ला, समाज, नगर, राज्य, देश, विदेश, धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, छल-बल, जन-बल और न जाने किस-किस की चेतना में फैलती गई। वहीं से हमारे दुःखों, कष्टों, रोगों, पीड़ाओं, पापों, पुण्यों, भय, विक्षेप, त्रास, जन्म, मृत्यु आदि की श्रंखला शुरू हो गई।

देहाध्यास व देहाधिपत्य में देह से मोह होने के कारण हमें देह व देह पर आधारित जगत से **राग** हो गया। हमारे **राग** में उलझने का कारण यह था, कि ईश्वर द्वारा निर्मित होने के कारण सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग हमारा स्वरूप था, लेकिन नाम-रूप की देह की अवचेतना में हमें इसका ज्ञान नहीं होने की वजह से, हमें इनकी चाहत हो गई। हमें भ्रम हो गया कि हमने इन्हें प्राप्त करना है, क्योंकि इन स्वरूपगत विशेषताओं की धुंधली सी स्मृति भी हमें थी। **यदि यह ज्ञान हो जाता, कि मैं स्वयं में इन विभूतियों से विभूषित हूँ, तो न मैं बाहर से इनकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक सक्रिय हो प्रयत्नरत होता और न ही किसी देश-काल, परिस्थिति में इनके खोने या क्षय हो जाने की आशंका से भयभीत और तनावित होता।** किसी भी प्राप्ति की चाह वहीं होगी, जहाँ उसका अभाव होगा।

हमें राग भी केवल पाँच विभूतियों में हुआ, छठी महाविभूति वैराग के प्रति कोई आकर्षण नहीं हुआ। भस्मी ही ईश्वरीय माया है जो छठी विभूति वैराग की द्योतक है और पंच-महाभूतों का मूल आधार है तथा समस्त

सृष्टि पंच-महाभूतों में ही है। जीव यदि उसे आत्मसात् कर लेता तो उसे कम से कम ईश्वर की छाया का सान्निध्य मिल जाता और उसमें **राग** के स्थान पर **वैराग** उत्पन्न हो जाता। **शिव-शक्ति की इकलौती सन्तान जीवात्मा, माया की राजकीय मुद्रा भस्मी या वैराग को छोड़ बैठा। भस्मी रूपी माया इसकी माँ है और पंच-प्राण-पुंज ज्योति स्वरूप शिव इसका पिता है। अपनी माँ की चुटकी भर भस्मी के साथ पिता की पंच-प्राणों की टिमटिमाती हुई ज्योति ही जीवात्मा का अपना स्वरूप है।** इसका **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में सविस्तार वर्णन है। महाचेतना का अंश जीवात्मा स्वयं को देह मान कर, अवचेतना में पदार्थों और सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य, ख्याति आदि विभूतियों की प्राप्ति की भाग-दौड़ में अपना मूल स्वरूप भूल गया, भस्मी भी भूल गया और पंच-प्राणों की ज्योति भी भूल गया। जीवात्मा जो ईश्वर का अंश विशुद्ध चेतना थी, नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप होकर अवचेतना में भटकने लगा, बिना यह जाने कि यह देह उसे किसलिए मिली है। जिस देह का एक-एक क्षण, एक-एक प्राण दैवीय शक्तियों के अधीन था, जीवात्मा ने उस पर गैरकानूनी रूप से अधिपत्य कर लिया। यहीं से वह विशुद्ध जीवात्मा स्वयं में जीव बन गया। यहीं से जीव सृष्टि का उद्गम हुआ।

इसने देहाध्यास में **रागवश** देह को ही साध्य मान लिया, जबकि देह ईश्वर-प्राप्ति का साधन थी। इसीलिए दैवीय संस्थानों द्वारा 9 प्रकार के केस चलाए गए, बहुत सी सज़ाएँ दी जाने लगीं। यद्यपि इन सज़ाओं का सविस्तार वर्णन मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में कर चुका हूँ, फिर भी संक्षेप में, सूत्र रूप में उनकी झलक यहाँ दे रहा हूँ। सबसे पहले तो जो विभूतियाँ इसे **जन्मजात प्राप्त थीं** और जो इसने तथाकथित कर्मठता से भाग-दौड़ कर **प्राप्त कीं,** उनके भोग का अधिकार इससे छीन लिया गया। इसे किसी भी वस्तु से **सन्तुष्टि नहीं मिली,** और-और की चाह में **अतृप्त, असन्तुष्ट, आसक्तियों को लिए अकाल मृत्यु को प्राप्त होता रहा।** पुनः शून्य से प्रारम्भ करता रहा, क्योंकि जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है। इसकी अपनी

ही प्राप्तियाँ, जिन्हें यह भोग नहीं सका, उन्होंने इसे जीने नहीं दिया और मानस में अहं के कारण हुई विपरीत प्रतिक्रिया के उत्पादों ने इसका मरना भी दुश्वार कर दिया तथा **प्रारब्ध** अलग बना। देहाध्यास अर्थात् स्वयं को देह से पहचानने के कारण यह आधि, व्याधि एवं उपाधि रोगों से घिर गया। जब किसी वस्तु को हम गैरकानूनी तौर पर हथियाते हैं, तो भयभीत रहते हैं। इसलिए इसकी अन्तरात्मा मलिन हो गई और यह मल, विक्षेप व आवरणयुक्त हो गया। अहं की एक अदृश्य परत इसके और इसके सच्चिदानंद स्वरूप के मध्य पड़ गई, जिससे यह ईश्वर-विमुख हो गया। भूतकाल के शोक तथा भविष्य की चिन्ताओं के निरर्थक बोझ से लदा कभी भी यह जीव अपने जीवन्त वर्तमान में नहीं रह पाया। इसका मानस और वृत्तियाँ प्रदूषित हो गईं, जो इसकी देह में विभिन्न रोग बन कर प्रकट हुईं तथा देह व देह पर आधारित समस्त जगत जो इसके लिए Asset था, वह इसकी Liability बन गया।

उस महाकालेश्वर ने एक विशिष्ट कार्यक्रम के अन्तर्गत हमें यह देह दी है, जिसकी कोई भी विधा हमारे हाथ में नहीं है। इस देह से हम ईश्वर-प्रदत्त इस बुद्धि का प्रयोग उसकी वाह-वाह करने के लिए करते, लेकिन हमने हाय-हाय कर, इस बुद्धि का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। **प्रभु हमारे हाथों से वह सब करवा लेते हैं, जो हमारे हाथों में नहीं है और अहंवश हम यह समझते हैं, कि 'मैं कर रहा हूँ' क्योंकि हमें देह से राग हो जाता है।** वैराग की आधारशिला-रहित राग में हमने विभिन्न पदार्थों व विभूतियों की प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना, जप-तप, दान-पुण्य, यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थ कर्म भी किए, तीर्थ-यात्राएँ भी कीं। जो वस्तुएँ उन अहंवश किए पुरुषार्थ-कर्मों द्वारा प्राप्त हुईं, उनसे महाराग हो गया, परिणामस्वरूप असन्तुष्टि, अतृप्ति व आसक्ति बनी रही।

देवी-देवताओं की कृपा से हमारे मनोरथ तो सिद्ध हुए, लेकिन वे पदार्थ और प्राप्तियाँ हमारे लिए शुभ व हितकारी भी हों, यह देखना उन देवी-देवताओं के कार्य-क्षेत्र में नहीं था। इसका हमें ज्ञान नहीं था। राग की

पराकाष्ठा में हम विभिन्न अनुष्ठान व देवोपासना आदि करते हैं, विभिन्न व्रत, उपवास भी रखते हैं और देवगण प्रसन्न होकर अभीष्ट वस्तुएँ हमें देते हैं। उन वस्तुओं का हम कभी भोग नहीं कर पाते, क्योंकि **उनका महात्म्य हमारे लिए इतना अधिक होता है, कि उन वस्तुओं की सुरक्षा व क्षय होने का भय हमें तनावित रखता है। घोर असुरक्षा, अतृप्ति, अशान्ति, क्लेश बना रहता है।** लेकिन सद्‌गुरु और इष्ट कभी आपको ऐसी वस्तुएँ नहीं देते जो आपके हित में न हों, चाहे आप एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा लें। इन सभी सज़ाओं का मूल कारण देहाध्यास एवं देहाधिपत्य ही है, जिसके मोह के कारण हमें देह व देह पर आधारित जगत से राग हो जाता है और देह ही हमारा साध्य बन जाती है। हम जब होश सम्भालते हैं, तो अपनी देह को अपने साथ पाते हैं, तो देहाध्यास क्यों नहीं होगा ! जब जीव जन्मों-जन्मान्तरों में त्रसित, भयभीत, दुःखी व विक्षिप्त रहता हुआ जन्मता-मरता रहता है, तो कभी किसी जन्म में माता-पिता के आशीर्वाद से इसे कोई सन्त मिल जाता है जिसकी कृपा से इसे इन भंयकर रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

सद्‌गुरु उस निराकार ईश्वरीय सत्ता का साकार-देह में साक्षात् प्रतिनिधि होता है, जो शिष्य के देहाध्यास रूपी रोग के लिए न केवल वैद्य का कार्य करता है, बल्कि दैवीय संस्थानों द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न मुकदमों के लिए वकील का कार्यभार भी वहन करता है। सद्‌गुरु ईश्वर की प्राणशक्तियों प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान को क्रमशः तत्त्वों अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश में प्रकाट्य के रहस्य से शिष्य को अवगत कराने और ईश्वर की छः विभूतियों का दिग्दर्शन कराने के लिए **हवन** करता है। ईश्वरीय प्राण पाँच हैं, तत्त्व भी पाँच हैं, लेकिन ईश्वरीय विभूतियाँ छः हैं, क्योंकि ईश्वर का समान प्राण जो **पृथ्वी** रूप में प्रकट होता है, ईश्वर की दो विभूतियों का द्योतक है—**ऐश्वर्य** (पदार्थ) और **वैराग** (भस्मी)।

हवन-प्रकरण में दीप-ज्योति के सम्मुख हम मन्त्रोच्चार व स्वाहा करते

हुए हवन-अग्नि प्रज्ज्वलित कर विभिन्न प्रकार की समिधाएँ (पीपल, आम, देवदार, बड़ व चन्दन आदि), विभिन्न वनस्पतियों की हवन-सामग्री, गोघृत, पंच-मेवा, पंच-प्रसाद, पंच-रत्न, इत्र, गोले, श्रीफल आदि अर्पित करते हैं। पंच-प्राणों के ज्योति-पुंज ईश्वर की प्रतीक अग्नि प्रकट होती है। जैसे-जैसे विभिन्न पदार्थों (**ऐश्वर्य**) की आहूति दी जाती है, हवन-अग्नि की **सौन्दर्यमयी** लालिमायुक्त लपटें नृत्य करती हुई प्रचण्ड (**शक्ति**) होती हैं, उनका प्रकाश (**ज्ञान**) फैलता है, धूना (**ख्याति**) उठता है और अन्ततः शेष रह जाती है—भस्मी (**वैराग**)। इस प्रकार हवन-अग्नि में सद्‌गुरु ईश्वर की छः विभूतियों का दिग्दर्शन सद्‌शिष्य को कराता है। हवन में अर्पित किए जाने वाले समस्त पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। पंच-प्राणों की शक्ति द्वारा प्राण, प्राण के प्रकाट्‌य अग्नि तत्त्व ने पंच-तत्त्वों से निर्मित व पृथ्वी से प्रकट हुए समस्त पदार्थों को पाँच तत्त्वों में विखण्डित किया। **विखण्डित होने पर पदार्थों का अग्नि-तत्त्व, अग्नि में लीन हुआ, जल-तत्त्व, वाष्प बनकर जल में लीन हुआ, वायु-तत्त्व, वायु में लीन हुआ और आकाश-तत्त्व, नाद रूप में आकाश में लीन हुआ, लेकिन जो पृथ्वी-तत्त्व था, वह रूपान्तरित होकर भस्मी के रूप में प्रत्यक्ष प्रकट हुआ।** ऐश्वर्य के द्योतक विभिन्न पदार्थ ईश्वर के **समान प्राण** की प्रतिच्छाया **पृथ्वी** से प्रकट हुए थे, जिनमें पाँचों तत्त्व समान थे और ईश्वर की छः विभूतियाँ भी समान रूप से विद्यमान थीं।

हवन की अग्नि पंचमुखी अग्नि है, इसकी **प्रचण्डता** व **शक्ति**, लपटों का **नृत्य** व **सौन्दर्य**, **प्रकाश** व **ज्ञान**, **धूना** व **ख्याति** उन समस्त **ऐश्वर्य** सूचक **पदार्थों** से ही था। जब तक पदार्थों की आहूति होती गई, ये पाँचों विभूतियाँ प्रकट हुईं, लेकिन महाशेष **तत्त्व** भस्मी रूप में ईश्वरीय छठी विभूति **वैराग** का प्रतीक है जो हवन प्रारम्भ होते ही बनना शुरू हो गया था। वह प्रतिक्षण अविरल बनते हुए भी पूर्णतया प्रकट अन्त में होता है। भस्मी ही ऐसा तत्त्व है, जो अविरल है, प्रत्यक्ष है, जिसे सुरक्षित रखा जा सकता है, एकत्र किया जा सकता है और किसी को भी दिया-लिया जा सकता है। समस्त पदार्थ स्वयं में ईश्वर के सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति के

प्रतिनिधि हैं, लेकिन वैराग रूप में भस्मी इन सबमें **समान** रूप से व्याप्त, महाशेष है।

पदार्थ और **पृथ्वी** शब्दों को वर्णमाला के अक्षरों की दृष्टि से विखण्डित किया जाए तो पदार्थ में—**प, द, र, थ** चार वर्ण हैं और पृथ्वी में भी—**प र थ व** चार वर्ण हैं। दोनों में **प, र, थ** समान हैं, पृथ्वी का **व** और पदार्थ का **द** असमान वर्ण हैं। **पदार्थ ऐश्वर्य** का सूचक है और **पृथ्वी** तत्त्व भस्मी रूप में **वैराग** का बोधक है। ये दोनों ही ईश्वरीय विभूतियाँ पाँच प्राणों में **समान-प्राण का प्रकाट्य हैं।** समस्त ऐश्वर्य रूपी पदार्थों में भस्मी समान है, लेकिन उसका प्रकाट्य तब होता है जब वे नहीं रहते। इसी प्रकार देह में अन्य तत्त्वों व विभूतियों के साथ भस्मी भी है, जो प्रकट तब होती है, जब देह नहीं रहती। जब हम भस्मी तत्त्व (वैराग) को छोड़कर केवल पदार्थों (ऐश्वर्य) की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहते हैं तो पदार्थ का असमान **'द'** हमें **दुःखी** करता है। हमें **दरिद्र, दलित, दुर्गुणी, दुर्जन, दुराग्राही, दुराचारी, दुर्व्यसनी व दानव बना देता है।** यह **'द'** ही हमारे **दुश्मन** बनाता है। इसलिए आज पारस्परिक सौहार्द्र, अपनत्व, स्नेह, मित्रता, प्रेम, करुणा, दया, क्षमा का अभाव दिखाई देता है और वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता और छीना-झपटी का बोलबाला है। क्योंकि हम, सबमें समान तत्त्व भस्मी को छोड़कर पदार्थों (ऐश्वर्य) के पीछे सरपट भाग रहे हैं।

यदि पृथ्वी तत्त्वातीत तत्त्व यानि भस्मी से जुड़े रहेंगे, तो पृथ्वी का असमान वर्ण **'व'** आपको **विराट, विशाल** और **वृहद** बनाकर पूरे विश्व को एक दृष्टि से देखते हुए विश्व-बन्धुत्व की ओर प्रेरित कर देगाः—

'उदार चित्तानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्।'

पूर्ण वसुधा को आप अपने परिवार के रूप में ही देखेंगे। यदि जीवन-काल में देह के रहते भस्मी तत्त्व को आत्मसात् कर लिया तो पदार्थ स्वतः आपके लिए प्रकट होने प्रारम्भ हो जाएँगे। ऐसे में पदार्थ का **'द'** आपके लिए **दिव्यता, देवत्व व दानशीलता** का द्योतक हो जाएगा। **ये तुकबन्दी नहीं है, बल्कि पंच-प्राण-पुंज शिव-स्वरूप सद्गुरु के जीवन्त,**

चेतन, प्राणमय मौन से निकले अक्षर हैं। तत्त्वातीत-तत्त्व भस्मी ही वह शक्ति है, जिससे पूरे ब्रह्माण्ड की निधियाँ, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त होने पर भी आप समान रूप से सामान्य रहते हैं।

सद्‌गुरु शिष्य को भस्मी का ज्ञान कराता है, कि देहाध्यास में भी तूने देह की पाँच विभूतियों में ही अध्यास किया, छठी विभूति भस्मी या वैराग को छोड़ दिया। जबकि ईश्वर ने अपनी समस्त छः विभूतियों को समान रूप से प्रत्येक मानव-देह में ठसाठस भरा था। सद्‌गुरु **'हवन'** करते हुए उसे समझाता है, कि देख **जैसे ही हवन प्रारम्भ हुआ, भस्मी बननी उसी समय शुरू हो गई थी** और हवन के दौरान जब लालिमायुक्त लपटें नृत्य करती हैं (सौन्दर्य) प्रचण्ड व दीप्त (शक्ति) होती हैं, प्रकाश (ज्ञान) विकीर्ण करती हैं, धूना (ख्याति) फैलता है, तो भी भस्मी साथ-साथ बनती रहती है, जिसे हम अनजाने में, मूर्खतावश या जानबूझकर उपेक्षित करते हैं। **देहाध्यास में हमने समान-प्राण व पृथ्वी रूप सामान अथवा ऐश्वर्य के भविष्यों को तो संजोया एवं जीवन-पर्यन्त इन्हीं की प्राप्ति के लिए संघर्ष-रत रहे, लेकिन समान प्राण की द्वितीय विभूति भस्मी-रूप वैराग को पूर्णतः उपेक्षित कर दिया।** भस्मी हमारा ऐसा भविष्य है, जो सुनिश्चित होते हुए भी हमारे लिए अनिश्चित है, कभी भी प्रकट हो सकता है और जिस क्षण वह आएगा, तब हम नहीं होंगे।

देहाध्यास में देह के मोह में रागवश हम भटकते हैं और अनेक दैवीय सज़ाएँ भुगतते रहते हैं। सद्‌गुरु सद्‌शिष्य को **देहाध्यास** से बाहर आने का नुस्खा बताता है, कि अब तू **भस्माध्यास** कर। सोच ईश्वर ने भस्मी को इतना छिपाकर क्यों रखा है, कि जब देह की भस्मी बनती है तो **'तू'** ही नहीं रहता, उसे देखने के लिए। देह के उस निश्चित भविष्य का कुछ तो सदुपयोग होना चाहिए ! आखिर वह तेरी देह की भस्मी है। **मरने के बाद बनने वाली भस्मी जड़ होगी। वह मौन शमशान का निस्तब्ध, निस्तेज और निष्प्राण मौन होगा।** यदि तू उस भविष्य को जीवन-काल में जीते जी आत्मसात् कर ले, तो **वह भस्मी चेतन हो जाएगी और भस्मीमय होकर तेरा मौन जीवन्त,**

चेतन व प्राणमय शिव का मौन होगा। विचार कर शंकर दिगम्बर हैं, दिशाएँ ही उसका वस्त्र हैं, वह मुर्दे की भस्मी ओढ़े रहता है, ऊपर से साँप, बिच्छू लटकाए रखता है, ताकि कोई उसके समीप न आ सके, उसकी भस्मी को छू न सके। शमशान में धूने पर बैठा रहता है और भूत, प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, डायनें, डाक-डाकनियाँ आदि गणों से घिरा रहता है। ऐसा इसलिए है **कि कहीं कोई उसकी भस्मी का रहस्य न जान जाए।**

वर्ष में एक दिन हम जन्म-दिन मनाते हैं, तो एक दिन मरण-दिन भी अवश्य आएगा। यद्यपि स्वयं को पैदा होते हुए किसी ने नहीं देखा, लेकिन सुनी-सुनाई बातों और मान्यता के आधार पर वर्ष में एक दिन जन्म-दिन सब मनाते हैं। **मरण-दिन तो किसी भी दिन आ सकता है। वह कालेश्वर आपसे परामर्श किए बिना उसी प्रकार आपको इस धरा से ले जाएगा, जैसेकि एक दिन पृथ्वी पर उतारा था।** तो फिर मरण-दिन कौन सा और कैसे मनाएँ? वर्ष में 365 या 366 दिन होते हैं। मान लो किसी की मृत्यु 29 फरवरी को होनी हो तो उसके लिए तो वर्ष में 366 दिन ही हुए। तो 366 दिनों में से **एक दिन** हमारा मृत्यु-दिवस अवश्य होगा।

एक दिन में 24 घण्टे यानि 1440 मिनिट होते हैं, तो हमारे मृत्यु-दिवस में 1440 मिनिट हुए। 366 दिनों के मिनिटों को 1440 से विभाजित करने पर लगभग 4 मिनिट का समय हुआ। **तो आप नित्य मात्र 4 मिनिट ईश्वर को अपनी उस भस्मी के नाम दीजिए। अगर नहीं देंगे तो आपका जन्म भी अवैध हो जाएगा, गैरकानूनी हो जाएगा और आप किसी न किसी दैवीय मुकदमे में पकड़े जाएँगे।** अतः रोज़ सुबह उठकर, शुद्ध होकर, विशुद्ध हृदय से प्रभु के सम्मुख यह प्रार्थना करें, कि "हे प्रभु ! आज का दिन आपने मेरे लिए दिया है, इसके स्वामी आप हैं। आज की मेरी नई देह भी आपने मेरे लिए दी है, इसका प्रयोग करना मैं नहीं जानता। यदि मैं जानता होता तो मैं दुःखों, रोगों व शोकों से ग्रसित क्यों होता? आप मुझे सुबुद्धि देंगे तो उसे भी मैं प्रयोग करूँगा तो दुर्बुद्धि बना दूँगा। इसलिए हे महाप्रभु ! मुझे बल-बुद्धि-विद्याहीन कर दो, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-

धनहीन कर दो। यह देह आपकी है और मैं भी आपका हूँ। जन्मों-जन्मान्तरों से मैं दुःखों, कष्टों में धक्के खा रहा हूँ, क्योंकि मुझे तुम्हारी दी हुई उत्कृष्ट, विलक्षण देह व इसकी शक्तियों का प्रयोग करना नहीं आता। **मैं जानता हूँ, कि तुम जानते हो, कि मैं कुछ नहीं जानता।** फिर भी यह देह तुमने मुझे दी है, यह जानते हुए भी कि मैं इसका इस्तेमाल करना नहीं जानता। इसलिए हे प्रभु ! मेरी ओर से अपनी बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्तियों से इसे तुम इस्तेमाल करो।'' वहाँ कोई चालीसा या सप्तशती पाठ करिए, चाहे न करिए, लेकिन यह प्रार्थना तहे-दिल, मन व रूह से अवश्य करनी है। **आप अश्रुपूरित हृदय से आर्तनाद करते हैं, तो प्रभु द्रवित हो जाते हैं, क्योंकि आपकी बात सटीक व सही होती है और तुरन्त आपका केस पुनर्विचार के लिए चला जाता है।** आप तुरन्त अनुभव करेंगे, कि आप **आत्म-विभोर** हो गए हैं। **'बोर'** शब्द आपकी शब्दावली से लुप्त हो जाएगा। आप उल्लास से **सराबोर** हो जाएँगे, **हर्ष-विभोर** हो जाएँगे।

सुबह उठते ही अपने प्रोग्राम मत देखना। शुद्ध हृदय से हुई उस प्रार्थना के बाद उस दिन का कार्यक्रम प्रभु स्वयं आपके लिए निश्चित करेंगे। आपका सारा दिन कैसे निकल जाएगा, आपको पता ही नहीं चलेगा। सब काम प्रभु के नाम से स्वयं होते जाएँगे। इस प्रार्थना के साथ 4 मिनिट का समय रोज़ अपनी भस्मी को भी अवश्य देना है। नहीं तो आपकी अपनी शक्तियाँ, डिग्रियाँ, पद, धन-सम्पदा, बुद्धि, खूबसूरत देह, परिवार, नाम-यश, ज्ञान आदि अवैध घोषित हो जाएगा और ये शक्तियाँ ही आपकी समस्त सुख-शान्ति व आनन्द को चाटने का कारण बन जाएँगी। आप अपनी किसी भी उपलब्धि या अर्जित पदार्थ का आनन्दपूर्वक भोग कर ही नहीं सकते।

सद्‌गुरु बहुत ही सटीक, सशक्त, सार्थक दूसरी प्रार्थना और बताता है, कि ''मैं जानता हूँ प्रभु ! तुम भस्मीप्रिय हो–**भस्मांग रागाय नमः शिवाय**–तुम मुर्दे की भस्मी ओढ़ते हो। मैं अपनी चेतन भस्मी तुम्हारे चरणों में अर्पित कर रहा हूँ।'' इस प्रकार रोज़ 4 मिनिट अपनी भस्मी भी प्रभु को

अर्पित कर देनी है, कि 'प्रभु ! मेरी बैलैंस-शीट बस यही है।' इस प्रकार रोज़ पहले स्वयं को समर्पित करना है और फिर 4 मिनिट अपना मृत्यु-दिवस अपनी ही भस्मी प्रभु के चरणों में अर्पित करके मनाना है। **इस प्रकरण से प्रभु इतने प्रसन्न हो जाते हैं, कि जो आपका केस पुनर्विचार के लिए गया था, उसे प्रभु पुरस्कार-विभाग में भेज देंगे।** उन 4 मिनिटों के भस्मी-अर्पण में शंकर आपको 4 महायुगों के रहस्यों से अवगत करवा देंगे।17 लाख 28 हज़ार वर्ष का सतयुग,12 लाख 96 हज़ार वर्ष का त्रेता, 8 लाख 64 हज़ार वर्ष का द्वापर और 4 लाख 32 हज़ार वर्ष का कलियुग, इन सब युगों का रहस्य शंकर आपको 4 मिनिट में खोल देगा। उसकी कृपा से उन्हीं चार मिनिटों में चारों वेदों के तात्त्विक ज्ञान का पारितोषिक भी मिल जाता है। चारों वेदों के ज्ञान का सार उन्हीं चार मिनिटों में बीज रूप में आपको उपलब्ध हो जाता है। ऐसा होता है। हम सत्य कह रहे हैं। यदि आपने वास्तव में अपनी भस्मी अर्पित की है, कि 'प्रभु ! मेरे पास तुम्हें देने के लिए और कुछ नहीं है, बस यह भस्मी ही मेरा शेष है, शेष सब ताम-झाम तुम्हारा है।' **अरे ! देहाध्यास का यदि मूलोच्छेदन करना है, तो भस्माध्यास से ही होगा।** अहं करना है, तो अपनी भस्मी का कर लो और रोज़ मात्र चार मिनिट उस भस्मी को प्रभु-अर्पित करो तो चारों युगों और चारों वेदों के ज्ञान के सार के साथ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के फल से भी प्रभु आपको पुरस्कृत करते हैं:—

''मृत्युंजय महादेव, त्राहिमाम् शरणागत,
जन्म-मृत्यु जरा-रोगे, पीड़ितम् कर्म-बन्धनैः।''

हम सब जन्म, मृत्यु, जरा और रोग इन चारों व्याधियों से पीड़ित हैं, क्योंकि देहाध्यास के कारण कर्म-बन्धन में फँसे हुए हैं। तो उन्हीं चार मिनिटों में शंकर आपके कर्म-बन्धनों को काटकर जन्म-मृत्यु, बुढ़ापे और रोग, इन चारों से आपको मुक्त कर देंगे। आपको जन्मेजय और मृत्युंजय बना देंगे। **शंकर विधि का विधाता है, वह ब्रह्मा के लेख भी मिटा सकता है, वह क्या नहीं कर सकता।**

भस्मी आपका एक ऐसा भविष्य है, जो आएगा अवश्य लेकिन आपके जीते जी कभी नहीं आएगा। आपमें भविष्य में विचरण करने की, उसे ओढ़ने की अद्‌भुत प्रतिभा प्रभु ने दी है। बहुत सी योजनाएँ आप बनाते रहते हैं, भविष्य को लेकर ही, कि ये मेरा दो साल का Project है, मैं इसमें इतना धन तो कमा ही लूँगा। मेडीकल कॉलेज में प्रवेश लेते ही स्वयं को डाक्टर समझने लगते हैं। ये जो भाव है, वह आपको रोज़ बिस्तर से उठाकर संघर्ष-रत रखता है, नहीं तो आप दस-ग्यारह बजे तक सो कर ही न उठें ! कई लोगों का दिन तो दोपहर के बारह बजे से शुरू होता है। ये जो छोटे-छोटे भविष्य हैं, वे आपको रोज़ दौड़ाते रहते हैं। वे भविष्य तो पता नहीं पूरे होंगे या नहीं होंगे, लेकिन जो निश्चित भविष्य है, उसे केवल मात्र चार मिनिट क्यों नहीं दे सकते ! इससे आपमें वैराग पैदा हो जाएगा।

आप **सामान** एकत्र करने में जुटे रहते हैं और सारे सामान में समान प्राण का बाह्य प्रकाट्‌य जो एक **समान** तत्त्व है, उसे बिल्कुल भूल जाते हैं। सद्‌गुरु उस समान तत्त्व, उस भस्मी तत्त्व का हवन द्वारा दिग्दर्शन कराता है। आपको उससे आत्मसात् होने की विधि बताता है। सद्‌गुरु आप पर कृपा करता है, बशर्ते आप जिज्ञासा, श्रद्धा व समर्पण भाव से उसके चरणों में बैठें। आपकी ये प्रार्थनाएँ अन्ततः अवश्य ही आपको इस **देहाध्यास** से मुक्त कर देंगी और देहाध्यास निश्चित रूप से **भस्माध्यास** में रूपान्तरित हो जाएगा। जिस दिन आप अपनी भस्मी से आत्मसात् हो जाएँगे, तो पूरे महाब्रह्माण्ड की निधियाँ मिलने पर भी आपको अभिमान नहीं होगा। आप सर्वदा अपनी मस्ती में रहेंगे। भगवान ने छः **विभूतियों** से आपको ठसाठस भरा है, जिसमें छठी विभूति है वैराग्य। वैराग्य की सूचक है भस्मी तथा भस्मी तब होगी जब हम नहीं होंगे। **इसलिए उस भस्मी को जीवन-काल में ही जीते जी आत्मसात् कर लें, तो हममें स्वतः वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा।** वैराग्य उत्पन्न होने से जिन पदार्थों और छोटे-छोटे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हम जीवन-पर्यन्त भागते रहते हैं, वे स्वतः हमारे चरणों में आने शुरू हो जाएँगे। आजीवन संघर्ष करके जो पदार्थ, नाम

और यश आदि हम अर्जित करते हैं, वह वैराग या भस्मी रूपी ठोस आधार से रहित होने के कारण रेत के टीलों की तरह ढह जाता है। छठी विभूति वैराग को हम तभी पकड़ पाते हैं, जब हम भस्मी से आत्मसात् होते हैं और भस्मी, देह का रूपान्तरण है। भस्मी महातत्त्व है और वैराग की द्योतक है।

वस्तुओं के पीछे भागते-भागते जब हम उन्हें भोग नहीं पाते या वे **हमसे किसी कारणवश छिन जाती हैं, तो जो निराशा होती है, उसे वैराग कहना उचित नहीं है।** आपको भोग में कुछ रुचि नहीं रहती, आप घर से बाहर निकलना नहीं चाहते, वैराग में भी लगभग यही स्थिति होती है, लेकिन उसमें उल्लास सम्मिलित रहता है। वैरागी अपने आनन्द में होता है और सभी भोगों का भरपूर आनन्द लेता है। पदार्थ और पदार्थों का भोग, योगी से बँधा होता है और भोगी इनसे बँधा रहता है। **योगी भोगों को अनुगृहीत करता है। ये धन-सम्पदा, ज्ञान, शक्ति, ख्याति आदि उसके स्पर्श से कृत-कृत्य होते हैं, क्योंकि भोगों का मूल आधार वैराग या भस्मी, उसका आभूषण है।** अतः स्पष्ट हो जाना चाहिए, कि निराश व्यक्ति और वैरागी में बहुत अन्तर है। आपसे वस्तुएँ छिन गईं, उनका भोग नहीं रहा अथवा उनकी प्राप्ति की भाग-दौड़ में आपकी ऊर्जा ही मन्द पड़ गई तो आप निराश हो जाते हैं। **निराशा पदार्थों व वस्तुओं के कारण होती है** और वैराग जीवात्मा को **'कारण'** के कारण होता है। अपने **'कारण' ईश्वर के सान्निध्य के लिए वैराग एक पड़ाव है, जिसमें से गुज़रना परमावश्यक है।** यह वैराग ही ईश्वरीय भक्ति का मूल है और वैराग का प्रतिफल है—भक्ति। भस्मीमय होकर जीवात्मा समस्त रागों को स्वयं में समेट कर ईश्वर की समीपता की अधिकारी हो जाती है, लेकिन यहाँ भी:—

''सबकी साक़ी पे नज़र हो यह ज़रूरी है मगर,
सब पे साक़ी की नज़र हो, यह ज़रूरी तो नहीं।''

किसी-किसी पर नज़रे-इनायत होती है। जहाँ **देहाध्यास** था, वहाँ **राग** हुआ। **भस्माध्यास** होने पर **वैराग** हुआ और **वैराग** के समर्पण पर **भक्ति**

मिली और **भक्ति** के समर्पण पर ईश्वरीय **अनुराग** मिलता है। वैराग की सीमाओं को पार करते ही जीव, तत्त्वातीत हो जाता है। आज इष्ट-कृपा से मैं आपके सम्मुख चारों पुरुषार्थों का अपनी दृष्टि से वर्णन कर रहा हूँ। राग, वैराग, भक्ति और अनुराग, वस्तुतः क्रमशः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के रूप में पुरुषार्थ के चार सोपान हैं। आपको देह से मोह होने के कारण राग हुआ, यह **राग** ही **अर्थ** है। इष्ट-कृपा से जब भस्माध्यास हुआ तो **वैराग** हुआ, यह वैराग ही **धर्म** है, क्योंकि भस्मीमय होते ही समस्त भौतिक विभूतियाँ, जिनके पीछे पहले आप रागवश भाग रहे थे, आपसे स्वतः प्रकट होनी प्रारम्भ हो गईं। वैरागी को **ईश्वर की कामना** हो गई तो **भक्ति** जाग्रत हुई। वैराग का प्रतिफल **भक्ति** है। विशुद्ध भक्ति बिना वैराग के जाग्रत नहीं होती। यदि आप भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए ईश्वर को मानते हैं, ध्याते हैं, अन्य पुरुषार्थ कर्म करते हैं, तो वह भक्ति नहीं है, वह विशुद्ध **राग** ही है। जो पुरुषार्थ के प्रथम सोपान **'अर्थ'** तक ही सीमित है। उसका धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। लोग आपके बाह्य क्रिया-कलापों को देखकर भले ही आपको धार्मिक और भक्त की संज्ञा देने लगें, लेकिन न तो आप धार्मिक हैं और भक्त तो हैं ही नहीं। उन पुरुषार्थ कर्मों के नेपथ्य में आपकी नीयत आप स्वयं जानते हैं। जब तक भस्मी को आत्मसात् नहीं करेंगे, तब तक आपको प्रभु से प्रेम नहीं होगा। ईश्वर की तथाकथित भक्ति सकाम ही होगी। भस्मी से आत्मसात् होकर वैराग की जागृति होने पर ही जीव निष्काम हो पाएगा। पूर्णतः निष्काम होने पर ही कृष्ण-काम जाग्रत होता है। माया की प्रामाणिकता के बिना जीव निष्काम हो ही नहीं सकता, क्योंकि माया के पास तो कामनाओं को आकर्षित करने वाली विभूतियाँ अनन्त हैं। जैसे ईश्वर अनन्त है, वैसे माया भी अनन्त है। **'ज्ञान, वैराग्य सिद्धयर्थं भिक्षा देहु माँ पार्वती'** महामाया स्वयं प्रमाणित करेगी कि आपको वैराग हुआ है या नहीं। तभी आप ईश्वर की ओर मुड़ सकेंगे।

देहाध्यासवश चेतन, अवचेतना में ईश्वर से विमुख हुआ तो यह माया ही उसे और उलझा देती है और देह से राग होने के कारण जीव उलझता ही

जाता है। जब सम्पूर्ण माया का समान तत्त्व **'भस्मी'** पकड़ते हैं तो यही माया, माँ बनकर ईश्वर की ओर पुनः आपका मुँह मोड़ देती है। आप वैरागी हो जाते हैं। वैराग ही धर्म है। **परिपक्व वैराग का प्रतिफल आपको ईश्वर की कामना या भक्ति के रूप में मिलता है।** यह ईश्वर की कामना ही पुरुषार्थ का तृतीय सोपान **काम** है। भक्त मूलतः निष्काम होता है। उसे वस्तुओं और विभिन्न पदार्थों की कोई कामना नहीं होती, उसके लिए उसका इष्ट ही सर्वोपरि है। उसे मात्र ईश्वर के बारे में जानने की इच्छा होती है, उसी की चर्चा में वह आनन्दित होता है।

भक्ति आते ही सभी ईश्वरीय सिद्धियाँ, निधियाँ आपका स्पर्श पाने को व्याकुल हो जाती हैं। देहाध्यास में देह के मोह से **रागवश** आप जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहते हैं, भस्माध्यास होते ही (देह की भस्मी से आत्मसात् होते ही) वैराग में वे सभी वस्तुएँ स्वतः, न चाहते हुए भी आपके चरणों में आने लगती हैं। इसी प्रकार वैराग के प्रतिफल, ईश्वरीय काम अथवा भक्ति की प्राप्ति होते ही सभी ईश्वरीय सिद्धियाँ, ऋद्धियाँ, नौ निधियाँ आपकी ओर स्वतः आने लगती हैं। आपमें विशिष्ट सद्गुण उत्पन्न होने लगते हैं। भक्ति से अनेक शक्तियाँ, निधियाँ प्रकट होनी शुरू हो जाती हैं। आपमें विशेष सौन्दर्य, सद्गुण व दिव्यता प्रकट हो जाती है। भक्ति का हरण तभी होता है, जब अभिमान हो जाए। रावण रूपी अहंकार ही भक्ति रूपी सीता के हरण का कारण है और जब ईश्वर आपसे प्रेम करने लगता है तो **भक्ति** का **रूपान्तरण अनुराग** में हो जाता है और यह **अनुराग** ही **मोक्ष** है।

मैं एक छोटे से दृष्टान्त द्वारा **वैराग** और **अनुराग** अथवा **काम** और **मोक्ष** के अत्यधिक सूक्ष्म लेकिन अति महत्त्वपूर्ण विभाजक बिन्दु को स्पष्ट करना चाहूँगा। एक बार नारद जी त्रिलोक में भ्रमण करते हुए विष्णुलोक में पहुँचे। वहाँ प्रभु के पास एक पुस्तिका रखी थी। कौतूहलवश प्रभु की आज्ञा से, वे उसे देखने लगे। उसमें एक सूची थी, जिसमें उनका नाम सबसे ऊपर था। जिज्ञासावश उन्होंने प्रभु से प्रश्न किया, कि यह सूची किन लोगों की

है। प्रभु ने बताया कि इसमें मेरे भक्तों के नाम हैं। नारद जी प्रभु-भक्तों में अपना नाम शीर्षस्थ देख कर बड़े प्रसन्न हुए, लेकिन उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि उसमें हनुमान जी का नाम कहीं नहीं था। अब नारद जी वहाँ से सीधा हनुमान जी के पास पहुँचे और बताया कि प्रभु-भक्तों की सूची में आप का नाम नहीं है, मैंने पूरी पुस्तिका देख ली है। हनुमान जी ने पूछा, कि तुमने क्या वह छोटी सी डायरी भी देखी है, जिसे प्रभु अपने हृदय-स्थल की जेब में रखते हैं। नारद जी ने कहा, नहीं, वह तो मैंने नहीं देखी। नारद जी पुनः विष्णुलोक पहुँचे और प्रभु से उस डायरी के बारे में पूछा। विष्णु भगवान ने अपनी जेब से वह डायरी निकाल कर नारद जी को दे दी, जिसमें हनुमान जी का नाम सबसे ऊपर था। अब नारद जी से रहा न गया और उन्होंने पूछ ही लिया, कि प्रभु ! इन पृथक्-पृथक् सूचियों का क्या रहस्य है। विष्णु भगवान बोले—**नारद जी ! उस पुस्तिका में मेरे भक्तों की सूची है, जो हमेशा मुझे याद करते रहते हैं। मेरी एक झलक पाने के लिए जन्मों-जन्मान्तरों तक तड़पते रहते हैं और इस डायरी में मेरे वे प्रेमी अंकित हैं, जिन्हें मैं हमेशा याद करता रहता हूँ, जिनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता।** तो वैरागी और अनुरागी में यही सूक्ष्म से विभाजक बिन्दु हैं। यही **काम** और **मोक्ष** रूप में पुरुषार्थ का तृतीय और चतुर्थ सोपान है।

राग (अर्थ), वैराग (धर्म), भक्ति (काम) और अनुराग (मोक्ष) इस प्रकार चारों पुरुषार्थ के सोपानों पर से गुज़रता हुआ जीवात्मा अन्ततः रामानुरागी हो मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। **उसे अपने ईश्वर के साथ जुड़े होने की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है।** यहाँ अद्वैत में द्वैत और द्वैत में अद्वैत होता है। द्वैत केवल लीला में, खेल में होता है। **अनुराग** में पाँचों मोक्ष समा जाते हैं। वहाँ वह भक्त रूपान्तरित होकर ईश्वरानुरागी हो जाता है। उस अनुरागी की प्रभु स्वयं प्रतीक्षा करते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की यदि आप व्याख्या करना चाहते हैं, तो आपको राग, वैराग, भक्ति और अनुराग के सोपानों से गुज़रना पड़ता है।

मानवीय प्रेम मोह है, देहाध्यास के राग का उत्पाद है और इसमें भटकन है। यह भटकन तब चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जब आप तथाकथित भक्ति व पूजा एवं उपासना द्वारा भौतिक वस्तुएँ व अभीष्ट सिद्धि चाहते हैं, यह पुरुषार्थ का प्रथम सोपान **अर्थ** है। भस्माध्यास होने पर **राग, वैराग** में रूपान्तरित हो जाता है, यह पुरुषार्थ का द्वितीय सोपान **धर्म** है। **वैराग** का स्वतः प्रतिफल **भक्ति** है, जहाँ ईश्वर की कामना जाग्रत हो जाती है, यह **काम** पुरुषार्थ का तृतीय सोपान है। भक्ति का प्रतिफल **अनुराग** है, जहाँ आप ईश्वरीय प्रेम की धारा में सराबोर हो जाते हैं, यही **मोक्ष** है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(5 जून 2005)

राग-वैराग-अनुराग

(भाग – 2)

आज आप सब अति विशिष्ट जिज्ञासुओं की सद्-प्रेरणा एवं इष्ट-कृपा से आपके सम्मुख भगवान शंकर के अति जटिल विषय **'राग-वैराग-अनुराग'** की दूसरी कड़ी का विमोचन करूँगा। इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण ही आपको समस्त सांसारिक विषयों से विमुक्त कर देगा। प्रभु-कृपा से जो अनुभूतियाँ हुई हैं, उसी आधार पर इस विषय को अपने शब्दों में रखने का प्रयास करूँगा। आपकी परम श्रद्धा, समर्पण एवं पूर्ण एकाग्रता अपेक्षित है।

अपने विभिन्न प्रवचनों में बार-बार मैं वर्णन कर चुका हूँ, कि किस प्रकार मानव-शिशु अपने नाम-रूप की प्रतीति होते ही देहाध्यासवश देह और देह पर आधारित जगत के **राग** में फँस जाता है। मायावश अपने नाम-रूप की चेतनता में संकुचित, अवचेतन सा जीव अपने ही रचित बन्धनों में जकड़ा हुआ व सूक्ष्म-मण्डल का विस्तार करता हुआ, विभिन्न सजाएँ, कष्ट व पीड़ाएँ भुगतता रहता है। यह सिलसिला अनवरत, अविरल युगों-युगान्तरों में जन्म-दर-जन्म चलता रहता है। हम सब मानवों की समस्त दौड़ अक्सर अपनी देह की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के लिए सुख-साधन एकत्रित करने के लिए होती है। अथवा वैराग को उपेक्षित कर, ईश्वरीय सत्तागत सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति, इन पाँच विभूतियों के लिए होती है। अथवा **दोनों के लिए होती है।** इन्हीं दो अनिश्चित व निरर्थक तथाकथित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हम आजीवन दौड़ते-दौड़ते, इन्हीं की आसक्तियों को लेकर

जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकते रहते हैं।

उस सच्चिदानंद ईश्वर का अंश जीवात्मा उसी की भाँति समस्त विभूतियों से युक्त थी, समस्त ईश्वरीय सत्ता उसके लिए थी। देह मायिक थी, तो मायावश इसे भ्रम हो गया, कि 'मैं देह हूँ' और यह देह व इन्द्रियों के सुखों को ही सर्वस्व समझने लगा। इस प्रकार सुख-साधनों की स्पर्धा में ईश्वर-प्रदत्त समस्त शक्तियों का जीवन के लिए दुरुपयोग करने लगा। जबकि इसके लिए समस्त प्रबन्ध स्वयं ईश्वर ही करता है। **वह परम शक्ति, पंच-प्राण-पुंज ईश्वरीय स्वरूप, इसे कभी नहीं छोड़ता, यदि वह छोड़ देता तो यह निष्प्राण हो जाता तथा इसकी देह व देह पर आधारित जगत भी इसके लिए समाप्त हो जाता।** कई लोग ईश्वर को नहीं मानते, लेकिन ईश्वर सबको मानता है। जो ईश्वर को नहीं भी मानते, उन्हें भी ईश्वर हवा, धूप, चाँदनी आदि बिना कोई टैक्स लिए सबके बराबर ही देता है। उन्हें भी अन्न, धन, वनस्पतियाँ आदि मिलती हैं। उनका भी जन्म व मृत्यु होती है। वह हमारे एक-एक क्षण का ध्यान रखता है। लेकिन मायावश स्वयं को देह मानने के भ्रम में यह अपने उस सच्चिदानंद-स्वरूप से विमुख हो गया। अजर-अमर जीवात्मा से जन्म-मरणधर्मा, एक नाम-रूप की देह, तुच्छ सा जीव बन गया। इसका सद्, चेतन व आनन्द, ईश्वरीय स्वरूप आच्छादित सा हो गया।

एक ईश्वरीय स्वरूप है और एक ईश्वरीय सत्ता है। जीवात्मा का अपना स्वरूप सच्चिदानंद है और **इसे दी गई देह, समस्त ईश्वरीय सत्ता का संघनित रूप है।** लेकिन देहाध्यासवश यह अपने उस स्वरूप के विमुख और देह के सम्मुख हो गई। इसका मौलिक स्वरूप सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग, छः विभूतियों का आगार था। भ्रमवश इससे विमुख होकर, वैराग को उपेक्षित कर देह के मोह व राग में अपनी ही स्वरूपगत शेष पाँच ईश्वरीय विभूतियों को, ईश्वरीय सत्ता के सुखों, सुख-साधनों व पदार्थों में ढूँढने का असफल प्रयास करता हुआ जीव भटकने लगा।

यह समस्त प्रकृति ईश्वरीय सत्ता है, जो ईश्वर के पाँचों प्राणों की

प्रतिच्छाया है, स्वयं ईश्वर नहीं है। अतः उस स्वरूप से विमुख होकर इसे ईश्वरीय सत्ता का अस्थाई व सीमित सुख तो मिला, लेकिन आनन्द नहीं मिला। पंच-प्राण-पुंज की प्रतिच्छाया ने इसे सीमित सुख तो दिया, लेकिन असीम आनन्द नहीं दिया और यह कारण जाने बिना, और-और सुख की लालसा में विभिन्न सुख-साधन एकत्रित करता रहा। आसक्तियों को लिए युगों-युगान्तरों में, जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहा। वह सौन्दर्य जिसका सम्बन्ध किसी वस्तु या पदार्थ से है ही नहीं, जिससे हम स्वयं परिपूरित हैं, उसे हम सांसारिक मायिक वस्तुओं एवं पदार्थों में देखना चाहते हैं। सुख, शान्ति, संतोष, समृद्धि, स्वास्थ्य, स्वजन व सत्संग से परिपूरित ऐश्वर्य को मात्र ऐहिक धन, सम्पदा, प्रौपर्टी आदि सुख-साधनों में देखना चाहते हैं। एक से एक अमूल्य व सुन्दर वस्तुओं को एकत्र करते हैं और कुछ समय के लिए प्रसन्न हो जाते हैं। लेकिन चार दिन बाद फिर असंतुष्ट हो जाते हैं। शक्तियाँ प्राप्त करना चाहते हैं। शक्तियाँ मिलती हैं, लेकिन फिर भी असंतुष्ट रहते हैं। ख्याति चाहते हैं, ख्याति मिलती है। दुनिया भर के शास्त्रादि पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं कुछ तथाकथित ज्ञान मिलता भी है, लेकिन फिर असन्तुष्ट हो जाते हैं। क्योंकि हमारी फितरत में, जन्मजात अपने स्वरूप की धूमिल सी स्मृति है, जिसे हम भूल से गए हैं। वह सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति, किसी भौतिक पदार्थ व सुख-साधन में नहीं मिलता। अरे ! सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का शासन भी आपके पास हो जाए, सारे विश्व की सौन्दर्यमयी वस्तुएँ आपकी हो जाएँ, सारे सागर के रत्न आपके पास हों, सारे विश्व के समस्त बैंकों में आपका ही धन हो, आपकी जन्म-जात स्वरूपगत विभूतियों की तुलना वे नहीं कर सकते। आपको अपनी इन जन्म-जात विभूतियों की धुँधली सी, अस्पष्ट सी अनुभूति है, जिससे संसार की कोई भी वस्तु मेल नहीं खाती। **हम उस असन्तुष्टि का कारण न जानते हैं, न जानना ही चाहते हैं।** यदि असन्तुष्टि का कारण जानने की चाह भी हो जाए तो सद्‌गुरु किसी न किसी रूप में प्रकट होकर आपका दिशा-निर्देश कर देता है। एक आध्यात्मिक गाली है **'निगुरा',**

'निगोड़ा'। हम सब 'निगुरे' ही रहते हैं। हम सब लावारिस हैं, एक तो लावारिस लाश होती है, जिसका कोई वली-वारिस नहीं होता। हमारा तो जीते जी कोई वारिस नहीं है। अरे ! जिसका कोई गुरु नहीं है, उसका वारिस भी कोई नहीं है। लेकिन हम 'सैल्फ मेड' का जामा पहने निगुरे ही घूमते रहते हैं और जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं।

हम केवल पाँच विभूतियों के पीछे भागते हैं। कोई वस्तु हमारे जीवन में अप्राप्त हो, तो देवी-देवताओं के प्रति उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करते हैं। यज्ञ-हवन, जप-तप, दान-पुण्य, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास आदि तथाकथित भक्तिपरक पुरुषार्थ कर्म भी करते हैं। उन देवी-देवताओं की कृपा से अनेक मनोरथ पूरे भी हो जाते हैं, लेकिन जो वस्तुएँ व पदार्थ हम देवी-देवताओं की कृपा व इन तथाकथित भक्तिपरक प्रकरणों द्वारा प्राप्त करते हैं, उनसे हमें **महाराग** हो जाता है। उन्हें प्राप्त करने के बाद भी उनके खोने की आशंका से हम भयभीत और त्रसित ही रहते हैं। लेकिन सद्गुरु व इष्ट (यदि आपने उन्हें धारण किया है तो) आपकी इच्छाओं के गुलाम नहीं होते, जो वस्तुएँ आपके हित में न हों उन्हें प्राप्त करने का आशीर्वाद वे नहीं देते। अतः संसार की समस्त विभूतियों के मोह में हम जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं। हमें प्राप्तियाँ होती हैं, लेकिन कोई भी प्राप्ति हमें सन्तुष्ट नहीं कर पाती, आसक्ति बनी रहती है। उन प्राप्तियों से हमें **राग** हो जाता है, कि मैंने बड़ी मुश्किल से अमुक वस्तु पाई है। तो हम अपनी भटकन का कारण जाने बगैर जन्म-जन्मान्तरों में भटकते रहते हैं। जीव सुख-साधनों और इन्द्रिय-सुख से कभी तृप्त इसलिए नहीं होता, क्योंकि इसकी चेतना में अपने आनन्द-स्वरूप की धूमिल सी स्मृति है, जिसका स्पष्ट ज्ञान इसे नहीं है। यह कारण नहीं जान पाता कि एक ही सुख बार-बार क्यों लेना चाहता है। भ्रमवश वह यह सोचता है, कि स्थान, वस्तु व पदार्थ बदलने से कदाचित् वह इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाएगी।

ईश्वर ने हमारी इन्द्रियों को उतनी ही चेतना व आनन्दमय प्राण-स्पर्श दिए हैं, जिनमें वे मात्र सुख ले सकती हैं, आनन्द नहीं, क्योंकि

आनन्द देहातीत है। ईश्वर-विमुख होकर जीव यदि पशुवत् इन्द्रियों का प्रयोग करेगा तो इन्द्रियाँ अपनी सीमित क्षमता के अनुरूप ही सुख देंगी। वह सुख जो सीमित है, जो उन साधनों से मिलता है, जो नश्वर हैं व जिनका होना भी अनिश्चित है तथा उस सुख के लिए इन्द्रियों का स्वस्थ होना भी अपेक्षित है। **जीव स्वयं जहाँ से उतरा है, जिसका वह अंश है, वह ईश्वर शाश्वत्, असीम व सच्चिदानंद है।** इस सीमित दृश्यमान में वह उस अदृश्य, शाश्वत् एवं असीम को ढूँढ रहा है। इन्द्रियजनित सुख भी पाँच प्राणों के स्पर्श के बिना असम्भव है। पंच-प्राण-पुंज सच्चिदानंद ईश्वर, जीव का ही अपना स्वरूप है और उसी के कारण इसकी तथा इसके सम्पूर्ण जगत की सत्ता है। प्रश्न उठता है, कि जिन प्राण-गतियों के स्पर्श से सुख मिलता है, उनसे आनन्द क्यों नहीं मिलता? पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का आधारभूत सुख एक ही है। जिन प्राण-गतियों के स्पर्श से यह सुख विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रकट होता है, वह आनन्द-स्वरूप भी एक ही है। पाँचों प्राण पृथक्-पृथक् हैं और पंच-महाभूत पृथक्-पृथक् उनकी प्रतिच्छाया हैं। इन पाँचों तत्त्वों के विभिन्न अनुपातों में संगम से यह चर-अचर दृश्यमान सृष्टि प्रकट होती है। जब वह प्राण-शक्ति नहीं रहती तो यह संगम स्वयं में निरर्थक हो जाता है। जैसेकि एक मृतक देह में प्राण-शक्ति के अभाव के कारण इन्द्रियाँ संज्ञाशून्य होकर निष्क्रिय हो जाती हैं। **जिस प्राण-शक्ति के कारण विभिन्न इन्द्रियाँ चैतन्य हो सुख लेती हैं, वह प्राण-शक्ति स्वयं में सच्चिदानंद है।** प्रश्न उठता है, कि जिस प्राण-शक्ति के सम्पर्क से हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सुख मिलता है, उनसे आनन्द क्यों नहीं मिलता? इसका कारण यह है, कि **देहाध्यास होते ही सद्, चेतन व आनन्द मात्र सुख तक ही सीमित रह गया।**

विवेक बुद्धि से यदि विचार करें तो हम पाते हैं, कि एक ही सुख को बार-बार लेकर अथवा वस्तुएँ व पदार्थ बदल-बदल कर हम उनमें कोई ऐसी वस्तु ढूँढते हैं, जिससे हम स्वयं अनभिज्ञ हैं। वह है—**'हमारा आनन्द-स्वरूप'।** एक समय ऐसा आता है, कि जो इन्द्रियाँ हमें सुख देती

थीं, वे अशक्त हो जाती हैं और सुख भी नहीं दे पातीं। तब हमारी इन्द्रियाँ असमर्थ होकर हमें जवाब दे देती हैं, कि अब और नहीं ! अथवा ऐसा भी हो सकता है, कि इन्द्रियाँ स्वस्थ भी होती हैं, लेकिन हमारी इच्छा ही नहीं रहती। अतः बार-बार उन सुखों को लेते हुए, हम उनमें वह आनन्द ढूँढते हैं, जो हमारा अपना स्वरूप है। हम अपने स्वरूप के आनन्द को उन वस्तुओं व सुख-साधनों द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के सुख में लेना चाहते हैं इसीलिए सुख को **बार-बार** लेते हुए हम **'बोर'** हो जाते हैं। ये जीवन के बड़े महत्त्वपूर्ण लेकिन साधारण तथ्य हैं, जिन्हें हम सामान्यतया उपेक्षित किए रहते हैं।

ईश्वर स्वयं में सच्चिदानंद है, साकार भी है, निराकार भी है। ठोस-घन-शिला, टस से मस नहीं होता, परम स्थिर है। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग, छः विभूतियों से युक्त है ईश्वरीय सत्ता। पंच-प्राण-पुंज है, अदृश्य ज्योति है। ऐसा नहीं है, कि किसी अदृश्य स्थान पर कोई ज्योति प्रदीप्त है। प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान, पाँच प्राणों का अविरल व अकाट्य संगम ईश्वर की विभूतियाँ छः हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह ईश्वरीय सत्ता, वह स्वरूप न कहीं जाता है, न कहीं आता है। समस्त प्रकृति उसके पाँचों प्राणों की प्रतिच्छाया है। माया है, मात्र प्रतीति है, वास्तव में है कुछ नहीं। जिस प्रकार कि वी. सी. आर. में हम कोई कैसैट लगाते हैं और उसका चित्र टीवी पर आना प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन वहाँ होता कुछ नहीं है, स्विच बन्द कर दो तो समस्त चित्रांकन समाप्त हो जाता है। यह जो समस्त संसार हम अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से देख, सुन, सूँघ, चख, स्पर्श कर रहे हैं, वह ईश्वर की माया है। इन पाँचों प्राणों का बाह्य प्रकाट्य पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश, इन पाँच सहज जड़ और निराकार महाभूतों के रूप में दृश्यमान होता है। इन्हीं पाँच महाभूतों में समस्त प्रकृति, ईश्वरीय मायिक सत्ता दृश्यमान है। **परमात्मा की सुकृति का नाम है—प्रकृति। जैसेकि कोई कवि या चित्रकार अपनी प्रतिभाओं और अनुभूतियों को प्रकट करने हेतु किसी कविता या चित्र**

की रचना करता है, तो वह रचनाकार कहलाता है। लेकिन वह कविता या चित्र स्वयं में कवि या चित्रकार नहीं है। हम कविता या चित्र का सुख लेते हैं, कवि या चित्रकार को भूले हुए व उपेक्षित किए रहते हैं। **उसका स्वाद बार-बार लेने पर उस सुख से भी हम बोर हो जाते हैं।** ईश्वर की छः विभूतियाँ हैं, उनका पाँच प्राणों द्वारा पंच-महाभूतों में प्रकाट्य करके वह प्रकृति की रचना करता है। खग, मृग, तरु, पल्लव, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल, प्रपात, नदियाँ, असंख्य वनस्पतियाँ, असंख्य प्राणी आदि, जिनमें एक हम भी हैं। उस महाकवि, महानाट्यकार, महारचयिता ईश्वर ने अपनी प्राण-शक्तियों की प्रतिभाओं का प्रकृति के रूप में साकार प्रकाट्य किया। **यह प्रकृति, उसकी सुकृति है, जिसकी वाह-वाह की चाह उसी प्रकार उस ईश्वर की भी है, जिस प्रकार एक कवि या चित्रकार भी अपनी कृति की प्रशंसा सुनने का इच्छुक होता है और इसकी अपेक्षा करता है।**

प्रकृति उसकी विभिन्न विधाओं, सौन्दर्य, प्रतिभाओं, संगीत, गायन, नृत्य आदि विभिन्न कलाओं का प्रकाट्य है, जिससे हम सुख लेते हैं। उस सुख को लेने की कई औपचारिकताएँ हैं, जिनका वर्णन मैं कर चुका हूँ। **यह समस्त प्रकृति ईश्वरीय सत्ता है, स्वयं ईश्वर नहीं है।** कविता, कवि नहीं होती। चित्र, चित्रकार नहीं होता। एक कवि ने जो कविता लिखी है, उसे अपनी बुद्धि, रुचि व मन के अनुसार यदि हम ग्रहण करेंगे तो उसका सुख लेंगे। किसी ने हमारे लिए कई व्यंजन बनाएँ हैं, उनका सुख हम लेंगे, यदि लेंगे तो ! प्रायः हम कवि, चित्रकार अथवा खाना बनाने वाले को उपेक्षित कर देते हैं, मात्र उसकी रचना का अपने हिसाब से सुख लेते हैं। **यही कविता हम उस कवि के पास बैठकर, उसके भाव से सुनें तो हमें उस कविता का सुख तो मिलेगा, साथ में आनन्द की अनुभूति भी होगी।**

हम विविध सुखों को बार-बार लेते हुए बोर हो जाते हैं। अन्त में आसक्तियों को लेकर ही मर जाते हैं। क्योंकि सुख-साधनों को एकत्रित करने की दौड़ में हमारी प्राण-शक्तियों की ऊर्जा मन्द पड़ जाती है और हम उनका भोग नहीं कर सकते। इसलिए कोई भी सुख हम प्राण-शक्तियों के

अबाध प्रवाह में ही ले सकते हैं। लेकिन उसकी भी कई शर्तें हैं—सुख-साधनों की उपलब्धि, स्वस्थ इन्द्रियाँ और सुख लेने की इच्छा। हम भूल जाते हैं, कि देह के इन सुखों का स्रोत देहातीत है। हम ईश्वर के स्वरूप को भूल जाते हैं, कि हम तो ईश्वर को नहीं मानते, परन्तु ईश्वर तो हमें मानता है, इसीलिए तो हम सुख ले पाते हैं। देह में प्राण न हो तो एक मृतक काया क्या सुख ले सकती है? **लेकिन ईश्वर को न मानने से हम उसकी सत्ता का सुख तो लेंगे, लेकिन उसके स्वरूप का आनन्द नहीं ले सकते।** इसीलिए जिनके पास अधिक सुख-साधन हैं, वे अधिक दुःखी व त्रसित हैं, क्योंकि उन सुखों को बार-बार लेते हुए बोर हो जाते हैं। क्योंकि उनमें हम कुछ **'मिस'** करते हैं और वह है—**आनन्द। आनन्द ईश्वर के स्वरूप का है, उसकी सत्ता का नहीं है। कवि की कविता सुख दे सकती है, लेकिन उसका आनन्द-मिश्रित सुख हम तभी लेंगे, जब कवि के भाव के साथ उसी की सान्निध्यता में कविता सुनेंगे।** 'गीता' से हमें तथाकथित किताबी ज्ञान मिल सकता है, लेकिन जब कृष्ण से गीता सुनेंगे तो उसका आनन्द भी आएगा। वह श्रवण ही हमारे ज्ञान-स्वरूप की जागृति कर देगा।

जीव समस्त विभूतियों से युक्त ईश्वरीय सच्चिदानंद स्वरूप से यदि जुड़ा रहता है, तो यह मायिक प्रकाट्य, समस्त ईश्वरीय सत्ता स्वयं उसके चरणों में आ जाती है। मैं महाभारत का एक दृष्टान्त दूँगा। पहले भी दे चुका हूँ, लेकिन आज इसका आयाम पृथक् है।

जब कौरवों और पाण्डवों में युद्ध होना निश्चित हो गया तो अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही श्रीकृष्ण से सहायता माँगने गए। श्रीकृष्ण उस समय सत्यभामा के महल में विश्राम कर रहे थे। दुर्योधन वहाँ पहले पहुँचा और भगवान के सिर की ओर रखे स्वर्ण-सिंहासन पर बैठ गया। अर्जुन के साथ उसकी पत्नी द्रौपदी भी थी। द्रौपदी ने जब दुर्योधन को वहाँ देखा तो वह सत्यभामा के पास अन्दर महल में चली गई और अर्जुन भगवान के चरणों में बैठ गए। यह कथा सबको विदित है, कि किस प्रकार दुर्योधन को भगवान ने अपनी चतुरंगिणी सेना दी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से, भले ही निहत्थे, लेकिन

अपने साथ रहने की याचना की थी, अतः दुर्योधन भगवान की विराट सेना को पाने का आश्वासन लेकर, प्रसन्न होता हुआ चला गया। अब कक्ष में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों रह गये। दोनों घनिष्ठ सखा हैं। अर्जुन, भगवान की शैया पर आकर भगवान के चरणों को अपनी गोद में लेकर धीरे-धीरे दबाने लगे और थके होने के कारण उन्होंने अपने चरण भी सामने की ओर फैला दिये। आप इस चित्र की कल्पना करें, कि भगवान शैया पर लेटे हैं और अर्जुन ने भगवान के चरणों को अपनी गोद में रख कर, अपने पैर सामने की ओर पसार दिए हैं।

जब सत्यभामा और द्रौपदी को पता चला कि दुर्योधन वहाँ से चला गया है, तो वे दोनों भी वहाँ आ गईं। एक बहुत अनौपचारिक वातावरण में सत्यभामा तथा द्रौपदी ने अर्जुन का एक-एक पैर अपनी गोद में लेकर दबाना प्रारम्भ कर दिया। भगवान के चरणों को अपनी गोद में लेकर अर्जुन दबा रहे हैं और साथ ही साथ अर्जुन के दोनों चरणों को भी सत्यभामा और द्रौपदी दबा रही हैं। अर्थात् जब ईश्वर के स्वरूप की सान्निध्यता होती है, उसके चरणों में हमारा **ध्यान** हो जाता है, हमारा आत्म-समर्पण हो जाता है, तो भगवान की माया हमारे चरणों में आ जाती है। अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण के चरण आनन्द में दबा रहे हैं और अपने चरण भी आनन्द में दबवा रहे हैं। **हम जब कोई सुख लेना चाहते हैं, तो हमें पहले आश्वस्त होना चाहिए, कि हम आनन्द में सुख लेना चाहते हैं अथवा सुख से आनन्द लेना चाहते हैं।** यदि हम आनन्द में सुख लेना चाहते हैं (जैसे अर्जुन ले रहा है) तो **वह सुख परम सुख बन जाएगा।**

ईश्वरीय स्वरूप से जो किसी भी तरह से, जाप द्वारा, भजन, ध्यान द्वारा, सिमरन, यज्ञ-हवन आदि द्वारा जुड़ा हुआ है और इस आनन्द में यदि वह सुख ले रहा है, तो यह प्रक्रिया Utilisation of Realisation कहलाती है। आनन्द की अनुभूति होती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, उसके लिए किसी बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्र ने **आनन्द को अभावमय कहा है।** हम जब ईश्वरीय आनन्दानुभूति के

लिए उसका ध्यान करते हैं, तो जिन ज्ञानेन्द्रियों से हम सुख लेते हैं आँख, कान, मुँह आदि, उन्हीं इन्द्रियों के द्वार बन्द कर लेते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण के चरणों के स्पर्श का आनन्द ले रहे हैं और भगवान की माया उसकी चेरी बनी उसके चरण दबा रही है। हमें सुख लेने से पहले यह अवश्य सोचना चाहिए, कि हम कहीं अपनी इन्द्रियों को नोंच तो नहीं रहे। **यदि हम आनन्द में सुख लेंगे तो यह परम सुख होगा। उस सुख की आवश्यकता इसलिए होगी, क्योंकि ईश्वर ने हमें देह और इन्द्रियाँ भी दी हैं, उनका सुख लेकर हम अपनी इन्द्रियों, को अनुग्रहीत करेंगे।** उदाहरणतः एक समुद्र यदि कुएँ से प्रार्थना करे, कि ''कुएँ भैया ! मुझे अपना दो-चार लोटे जल देना।'' तो कुआँ आत्म-विभोर होकर अनुग्रहीत हो जाएगा, कि ''प्रभु ! आपने मुझसे पानी माँगा। अरे ! आपकी एक झलक से करोड़ों कुएँ भर सकते हैं। मुझ गरीब की हैसियत ही क्या है?'' वह अपने आप को सारा उँडेल देगा, कि ''हे सागर देवता ! आप मेरा समस्त जल लेकर मुझे कृतार्थ करिए।''

इसी प्रकार आप जब ईश्वरीय स्वरूप के आनन्द में विभोर हुए अपनी इन्द्रियों से सुख लेंगे तो आपकी इन्द्रियाँ आपकी सेविकाएँ बनकर आपके चरणों में आ जाएँगी। यह सरस-साधना है, जो कृपा-साध्य है। इन्द्रिय-दमन से इन्द्रियाँ विकराल रूप धारण करके आपको अधोगति में ले जा सकती हैं। **जब आप ईश्वर से जुड़ जाएँगे तो आप बार-बार बोर नहीं होंगे, बल्कि आत्म-विभोर हो जाएँगे, आनन्द-मिश्रित सुख से सराबोर हो जाएँगे।** वहाँ आपके जीवन के शब्द-कोष से **बोर** शब्द विलुप्त हो जाएगा। वह परमपिता परमात्मा जो पंच-महाभूतों में सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करता है, जिसमें आप भी हैं, आपका एकमात्र कर्तव्य है, कि आप किसी भी प्रकार से उससे जुड़े रहें। उसके बाद आप अपनी देह और समस्त ईश्वरीय-सत्ता का आनन्दपूर्वक भोग करिए। आपकी इन्द्रियाँ अनुग्रहीत हो जाएँगी, क्योंकि वे सुख तो आपके ईश्वरीय सच्चिदानंद-स्वरूप से ही लेकर आपको देती हैं।

हम ईश्वरीय-सत्ता को तो मानते हैं, लेकिन उसके स्वरूप तथा रूप को नहीं मानते। स्वरूप निराकार है, अदृश्य प्राण-पुंज **ज्योति-स्वरूप** है और **'रूप'** उसी स्वरूप की इष्ट के रूप में मान्यता है। **तो रूप और स्वरूप की जो मान्यता है, उसकी सान्निध्यता की लिप्सा, उससे आत्मसात् होने का जो भाव है, उसका साथ अनुभव कर उसी में आत्म-विभोर रहने की जो वृत्ति है तथा उसके साथ रहने और रास करने की लालसा ही आनन्द है।** जब वह आनन्द मिल जाए तो उसके सम्मुख उसकी सत्ता के सुख नगण्य-प्रायः हो जाते हैं। वह ईश्वरीय सत्ता स्वतः ही जीव की चेरी बन जाती है। वह सुख, आनन्दमय होता है।

जीव या तो ईश्वरीय-सत्ता के राग में फँसा रहता है अथवा इन्द्रिय-दमन द्वारा सत्ता को हटा ही देता है। दोनों ही स्थितियों में विशुद्ध वैराग जाग्रत नहीं होता। इन्द्रिय दमन अप्राकृतिक है, इससे थोड़ी बहुत एकाग्रता व सिद्धि मिल जाती है, लेकिन वैराग उत्पन्न नहीं होता। मानव का एकमात्र धर्म यह है, कि वह देह के रहते अपनी ही देह के निश्चित भविष्य **'भस्मी'** से आत्मसात् हो जाए। **भस्मी को धारण करना ही धर्म है।** भस्मी को धारण करते ही सद्‌गुरु-कृपा से विशुद्ध वैराग जाग्रत हो जाता है।

जीते जी सद्‌गुरु-कृपा से जब जीव उस भस्मी को आत्मसात् करता है जो जीवन व मृत्यु के दोनों छोरों से बाहर है और पंच-महाभूतों से बनी इसकी देह का अवशेष है, तो धीरे-धीरे यह धारणा परिपक्व हो जाती है, कि **'मैं देह नहीं, बल्कि भस्मी हूँ।'** इस भविष्य के लिए भागना नहीं पड़ता, बल्कि स्थिर होकर बैठना पड़ता है। भस्मी पाँचों महाभूतों से पृथक्, तत्त्वातीत तत्त्व है। वह देह का अन्तिम, निश्चित व परिलक्षित भविष्य है, लेकिन उस भस्मी का अतीत इसकी देह नहीं है। अतः धीरे-धीरे इसका देहाध्यास, भस्माध्यास में रूपान्तरित होने लगता है। इसके समस्त कष्टों का मूल, भाग-दौड़ कर वस्तुओं की प्राप्ति की आसक्ति, सम्बन्धों, पद-प्रतिष्ठा आदि के बन्धनों का कारण देहाध्यास ही था।

जीवात्मा जो विशुद्ध ईश्वरीय अंश है, उसकी चेतना में युगों-युगान्तरों से **देहाभास** है, जिससे वह जीव बन गया। देहाभास में मात्र देह की प्रतीति होती है, जिसे वह कह नहीं सकता। यदि कहने में आ जाए तो देहाध्यास हो जाएगा। तो जीव देह को युगों-युगान्तरों से अपने साथ मानकर चल रहा है। उसने कभी भी स्वयं को बिना देह के नहीं पाया। विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में विभिन्न देहें मिलीं और चली गईं। देह चले जाने पर देहाध्यास तो समाप्त हो जाता है (जोकि सुषुप्ति, मूर्च्छा, विस्मृति, मृत्यु आदि स्थितियों में भी नहीं रहता) लेकिन देहाभास नहीं जाता। इसलिए जब भी स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानने लगता है, तो वही देहाभास, देहाध्यास में तुरन्त रूपान्तरित हो जाता है। इस विषय का सविस्तार वर्णन मैंने **'देहाभास से भस्माभास'** शीर्षक प्रवचन में किया है। इसीलिए देहाध्यासवश ईश्वरीय-सत्ता के मोह व राग में फँसा रहता है। सीमित सुख तो मिलता है, लेकिन आनन्द जो देहातीत है, नहीं मिलता। अतः उस आनन्द की खोज में पुनः पुनः देह धारण करके जन्म-मृत्यु के काल-चक्र में भटकता रहता है। इसका वैराग जाग्रत नहीं होता। जब जीते जी हम भस्मी का अध्यास करते हैं, कि 'मैं भस्मी हूँ' तो कुछ क्षणों के लिए देहाध्यास, भस्माध्यास में रूपान्तरित हो जाता है और हम उस समय जाग्रत भी होते हैं। यह समाधि अवस्था है।

तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** प्रत्येक प्राणी का निश्चित भविष्य है। जो पंच-महाभूतों की देह के लीन होने के बाद प्रकट होता है। जीते जी ही जब सद्गुरु-कृपा से उस भस्मी की अवधारणा की, कि **''मैं भस्मी बन गया हूँ,''** तो इसकी समाधि लग गई। भस्माध्यास में कुछ क्षणों के लिए नाम-रूप की देह व उस पर आधारित जगत लीन हो गया। उस आनन्द की अनुभूति से अभिभूत जीव पुनः पुनः उस अभावमय आनन्दमयी मानसिक स्थिति में विचरना चाहता है। वह सोचता है, कि मैंने अनेक सुख-साधनों और विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का सुख भोगा, लेकिन ऐसा आनन्द कभी नहीं आया। समाधि से उठने के कुछ समय बाद फिर देहाध्यास हो जाता है। अतः जीव बेचैन

होकर पुनः पुनः भस्मी में विचरना चाहता है। उस अभावमय आनन्द के सम्मुख उसे देह के समस्त सुख फीके व नगण्य नज़र आते हैं। उस स्थिति से बाहर आने पर वह देखता है, कि भस्मी तो कहीं नहीं है। भस्मी मात्र अवधारणा में थी। देह वैसी की वैसी ही है, तो वह सोचता है कि मुझे आनन्द काहे का मिला? ध्यान में भस्माध्यास होने पर जो तत्त्वातीत तत्त्व प्रकट हुआ, वह मेरी पंच-भूतों की देह और पाँचों इन्द्रियों के सुखों के समाप्त होने के बाद प्रकट हुआ। मैंने अभी तक विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से इन्हीं का सुख भोगा था। मेरी चेतनता में जब पाँचों तत्त्वों और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों ने अपनी सत्ता खो दी (जब मैं भस्मी से आत्मसात् हुआ) तो मुझे अपने ईश्वरीय सच्चिदानंद स्वरूप के अभावमय आनन्द की अनुभूति हुई। जो मुझे आज तक न किसी पदार्थ से मिला और न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही मिला। **वह अभावमय आनन्द मेरे ईश्वरीय अंश, जीवात्मा स्वरूप का आनन्द था।** अब मैं उस भस्मीमय मानसिक स्थिति के लिए लालायित रहने लगा। समाधि में भस्माध्यास होने पर देहाध्यास तो चला गया, लेकिन देहाभास फिर भी नहीं गया, जो एक नाम-रूप की देह को अपने साथ पाते ही पुनः देहाध्यास में रूपान्तरित हो गया।

देहाभास एक निराधार आभास है, जिससे जीवात्मा की चेतना **जीव-भाव से आच्छादित हो जाती है।** जब तक यह जीव-भाव अभिव्यक्ति में नहीं आता है, देहाभास ही रहता है। देहाभास में जीव फँसता नहीं है, लेकिन जब किसी नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप होकर देहाभास अभिव्यक्त होता है, तो देहाध्यास बन जाता है। युगों-युगान्तरों से जीवात्मा की चेतना में यह जीव-भाव, देहाभास के रूप में है, जो विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में मिली देह के कारण देहाध्यास में रूपान्तरित होकर इसे आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप और आवरण से ग्रसित करता हुआ काल-चक्र में भटका रहा है। यह देहाभास कैसे जाए? क्योंकि जब तक देहाभास नहीं जाएगा इसके कष्टों का अन्त नहीं होगा। सद्गुरु बताता है, कि **देहाभास का निर्मूलन भस्माभास से होगा,** जिसके लिए साक्षात् माँ जगदम्बा से प्रार्थना करनी

होगी। यदि माँ महामाया प्रसन्न हो जाए तो तुझे भस्माभास दे देगी:–

''ज्ञान वैराग सिद्धयर्थं भिक्षां देहु माँ पार्वती।''

एक बार यदि भस्माभास हो गया तो युगों-युगान्तरों से जीवात्मा की चेतना देहाभास के कारण जिस निराधार जीव-भाव से आच्छादित है, वह जीव-भाव ही समाप्त हो जाएगा। यह शिवत्व के परम रहस्य से युक्त परम गोपनीय श्रुति ज्ञान है, जो मात्र अनुभूति का विषय है। आप परम श्रद्धा से इसका अधिग्रहण करें। माँ महामाया जगदम्बा की कृपा से जब देहाभास, भस्माभास में रूपान्तरित हो जाता है, तो उस समय ईश्वर की छठी विभूति **'वैराग'** जाग्रत हो जाएगी। भस्माध्यास के दौरान उसकी झलक आनी शुरू हो जाती है, लेकिन विशुद्ध वैराग का प्रकटीकरण माँ जगदम्बा की कृपा से प्राप्त भस्माभास के बाद ही होगा।

वैराग **'अराग'** नहीं है, बल्कि **'महाराग'** है। यह ईश्वर की **विभूत्यातीत विभूति** है, पाँचों विभूतियों की जननी है। ईश्वरीय सत्ता की महाविभूति **वैराग** है। जब **वैराग** होगा तो संसार की वस्तुओं से आपका **राग** स्वतः ही समाप्त हो जाएगा। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति जिन पाँचों विभूतियों के लिए और इन्द्रिय सुख-साधनों के लिए आप भाग रहे थे, वे विभूतियाँ अपने मूल रूप में आपसे प्रस्फुटित होनी प्रारम्भ हो जाएँगी। अतः स्थायी वैराग देहाभास समाप्त होने पर ही होगा।

देहाध्यास में रागवश जीव देह व देह पर आधारित जगत के लिए भाग-दौड़ में निरर्थक समय व्यर्थ करता रहता है। जो वस्तुएँ, पदार्थ आदि मिलते हैं, कभी न कभी वे इसे छोड़ देते हैं अथवा यह उन्हें छोड़कर चला जाता है। जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है। एक जन्म में आप करोड़पति होकर मरे हों तो हो सकता है, अगले जन्म में आपको भीख माँगनी पड़ जाए। यह तो सोचिए, कि जिस समय अन्तिम श्वास आएगा, आप यहाँ से क्या लेकर जाएँगे ! आपकी कमाई हुई दौलत, सम्पदा, सुख-साधन सब यहीं रह जाएँगे। **आपका वैराग ही एकमात्र ऐसा धन है, जो कभी नष्ट नहीं होगा और आपके साथ चलेगा। उसी वैरागमयी मानसिक स्थिति में**

आप फिर देह धारण करेंगे, तो देह और देह पर आधारित जगत का महत्त्व आपके लिए नगण्य होगा। आपका शिवत्व आपके साथ जाएगा, इसीलिए शिव का वास शमशान में है। **जहाँ शान का शमन हो जाए उसे शमशान कहते हैं।**

वैराग होने पर सांसारिक राग की पूर्णतः समाप्ति हो जाती है। जन्मों-जन्मान्तरों में जिस ईश्वरीय सत्ता की विभूतियों की चाहत हमें भटका रही थी, वे विभूतियाँ ही अपने मूल रूप में प्रकट होने लगती हैं। वस्तुओं का भोग करके हम अपनी इन्द्रियों को अनुगृहीत करते हैं, जैसेकि सागर-देवता के जल माँगने पर कुआँ अनुगृहीत हो गया। इस सबके बाद भी जीवात्मा तृप्त नहीं होती, कि ''**हे प्रभु ! तुम्हारी सत्ता का समस्त नज़ारा मुझे दृश्यमान है, मेरे पास है। मुझे किसी चीज़ के लिए भागना-दौड़ना नहीं पड़ रहा।** समस्त ज्ञानेन्द्रियों का सुख मैं आनन्द में ले रहा हूँ। तुम्हारी पाँचों विभूतियाँ मुझसे प्रकट हो रही हैं, लेकिन अब मुझे तेरी चाहत है।'' **पहले सांसारिक वस्तुओं** में जो **आसक्ति** थी, अब वही **आसक्ति इसे भगवान** में हो जाती है। भगवान में आसक्ति ही **'भक्ति'** है। पहले सांसारिक वस्तुओं और पदार्थों की आसक्तिवश भी भगवान को मानकर यह विभिन्न पुरुषार्थ कर्म, दान-पुण्य, जप-तप, तीर्थ-व्रत, यज्ञ-हवन, साधना-प्रकरण करता था, लेकिन वह वास्तविक भक्ति नहीं थी। वह स्वार्थ था। लेकिन पुरुषार्थ की ओर इसकी **यात्रा** प्रारम्भ हो गई थी। स्वार्थ (स्व+अर्थ) से की गई वह तथाकथित भक्ति पुरुषार्थ का प्रथम सोपान **'अर्थ'** था। जब भी आप उस पुरुषोत्तम से किसी भी तरह से जुड़ते हैं, तो पुरुषार्थ तो आरम्भ हो ही जाता है। लेकिन उससे जुड़ने के नेपथ्य में आपकी नीयत क्या है? **क्या आप उससे उसकी प्राकृतिक सत्तागत विभूतियों के लिए जुड़े हैं अथवा उससे उसकी भगवत्ता या परा प्राकृतिक उपलब्धियों के लिए जुड़े हैं अथवा आप उससे केवल उसी के लिए जुड़े हैं।** अब जीव की समस्त आसक्ति ईश्वर के स्वरूप के प्रति हो जाती है। सद्‌गुरु-कृपा एवं महामाया जगदम्बा की कृपा से जब इसका देहाभास, भस्माभास में रूपान्तरित हुआ तो नाम-रूप की

अवचेतना से अनाच्छादित इसका विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप दैदीप्यमान हो गया। अब उस परम पिता परमेश्वर के स्वरूप से इसे प्रेम हो जाता है। **वहाँ भी इसे एक चाहत रहती है, कि इसका इष्ट भी इससे प्रेम करे।** अतः विभूत्यातीत विभूति **वैराग** है, तो **वैराग्यातीत विभूति है–अनुराग। वैराग से बढ़कर जो विभूति है, वह अनुराग है।** वैराग से अनुराग कब प्रकट होता है और इसके मार्ग में बाधक क्या-क्या होता है, इस विषय में हम आगामी प्रवचन में विस्तार से वर्णन करेंगे।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(17 जुलाई और 14 अगस्त, 2005)

राग-वैराग-अनुराग

(भाग – 3)

आज परम इष्ट-कृपा और आप सब सर्वोत्कृष्ट एवं अति विलक्षण जिज्ञासुओं की विशिष्ट जिज्ञासावश परम शिवमय विषय **'राग, वैराग और अनुराग'** की तृतीय कड़ी का विमोचन करूँगा। आप अत्यधिक श्रद्धा एवं समर्पण भाव से इसका श्रवण करें। ऐसे विषय सार्वजनिक स्तर पर खोले नहीं जाते, यह मात्र श्रुतिज्ञान है। आप सब पर अपने पितरों एवं बुज़ुर्गों का विशेष आशीर्वाद है, जो इस गहनतम विषय का श्रवण कर रहे हैं। आपकी परम एकाग्रता वांछनीय है। निश्चय ही आप कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण कर पाएँगे, ऐसा मेरा विश्वास है। हमारा जन्म हुआ और मृत्यु होगी। जन्म कहाँ, कब, किस माता-पिता से हुआ, यह हम जानते हैं, जैसाकि हमें बताया गया है। मृत्यु कब, कहाँ, कैसे होगी, हम नहीं जानते। कोई भी नहीं जानता। जन्म होगा इसका हमें ज्ञान नहीं था, लेकिन मृत्यु अवश्य होगी, इसकी हमें पूर्ण जानकारी है। एक नया बड़ा विचित्र सा प्रश्न दिल, दिमाग और रूह को कम्पायमान करके उठता है**, कि मृत्यु क्यों होगी?** इसका छोटा सा, सटीक व सार्थक उत्तर है, **क्योंकि जन्म हुआ था।** इससे उत्तम इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। यही प्रश्न यदि हम जन्म के विषय में पूछें कि जन्म क्यों हुआ? तो इसका यह उत्तर नहीं है, क्योंकि मृत्यु होगी।

हमारा जन्म क्यों हुआ, यह प्रश्न एक विराट स्वरूप लेकर हमारे मन, मस्तिष्क व रूह के सम्मुख खड़ा हो जाता है। हम इस संसार में स्वयं नहीं

आए हैं, बल्कि लाए गए हैं। यदि हम स्वयं आते तो हमें अपने आने के कारण का ज्ञान होता। **मुझे तो यह भी ज्ञान नहीं था, कि मेरा जन्म होगा, तो फिर जन्म क्यों हुआ, इसका ज्ञान मुझे कैसे होता।** क्या मैं मरने के लिए पैदा हुआ हूँ? यदि **'नहीं'** तो क्या कुछ करने के लिए पैदा हुआ हूँ? यदि मैं विवेक बुद्धि से विचार करूँ तो पाता हूँ, कि कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन व संहार जिसका भृकुटि विलास मात्र है, उस परमपिता परमेश्वर ने मुझसे क्या करवाना होगा? सद्‌गुरु-कृपा से मैं यह भी जान गया हूँ, कि मेरे द्वारा भी होने वाला कोई कृत्य व्यक्तिगत नहीं है और मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है। **मेरे हाथों से प्रभु स्वयं जब चाहते हैं, कुछ न कुछ करवाते रहते हैं। यदि मेरा जन्म कुछ करने के लिए हुआ है, तो मैं क्या करूँ?** सद्‌गुरु ने मुझे इस बात से भी अवगत कराया है कि **जो कार्य मेरे बिना भी हो सकता है, वह मेरा कर्तव्य नहीं हो सकता। यदि यह सत्य है तो मैं क्या करूँ ?** सद्‌गुरु-कृपा से मैं यह भी जान गया हूँ, कि मैं जो एकत्रित कर रहा हूँ अथवा करना चाहता हूँ, वह सब मुझे छोड़कर जाना पड़ेगा, **तो मैं क्या करूँ?**

मेरा जन्म क्यों हुआ? यह बहुत विस्तृत और विराट प्रश्न है। तो मैं क्या करूँ? यह उससे भी वृहद् और चिन्तनीय प्रश्न है। समस्त वेद-वेदान्त, श्रुतियाँ, पुराण, शास्त्र, स्मृतियों व उपनिषदों का केन्द्र ये दो प्रश्न हैं। **जो मुझे करना है, वह हो रहा है और जो होना है, वह मैं कर रहा हूँ।** मुझे मात्र इस परम सत्य की अनुभूति करनी है, कि सब कुछ हो रहा है, होता रहा है और होता रहेगा। **सब कुछ निर्धारित है, मैं व्यर्थ फँसा हूँ, कि मुझे यह करना है, मैं यह नहीं कर पाया अथवा मैंने इतना कर लिया।** सद्‌गुरु-कृपा से, किसी भी तरह से और सब तरह से इस सत्य को अनुभूति में उतारने के लिए मुझे देह मिली है। **जीवन का यह समस्त प्रकरण देह से देहातीत होने का है, कल्पना से यथार्थ में उतरने का है।**

मेरा जन्म इसलिए हुआ कि मैं इस सत्य की अनुभूति कर लूँ कि मेरे बिना भी संसार चल रहा था और चलता रहेगा। मेरे होते हुए भी जो

संसार चल रहा है, वह स्वतः चल रहा है। मूर्खतावश, अज्ञानवश, मायावश, भ्रमवश मैं यह समझ रहा हूँ, कि मैं संसार चला रहा हूँ। व्यर्थ ही कर्तव्यों को स्वयं पर थोप कर मैं तनाव और चिन्ताओं से घिरा रहता हूँ। बहुत कुछ चाहता हूँ, चाहतें पूरी भी होती हैं, पर चाहतों का अन्त नहीं होता। एक चाहत पूरी हुई, दूसरी शुरू हो जाती है। सौन्दर्य की, ज्ञान की, ख्याति की, विभिन्न शक्तियों की चाहतें पूरी होती हैं, समाप्त भी हो जाती हैं, लेकिन चाहतों का अन्तहीन सिलसिला इसलिए चलता रहता है, **क्योंकि मैं यह जानना नहीं चाहता कि मेरी चाहत क्या चाहती है? वस्तुतः मेरी चाहत मुझे चाहती है। जब तक मेरी चाहत को 'मैं' नहीं मिलूँगा, तब तक मेरी चाहत करोड़ जन्मों तक भी समाप्त नहीं होगी। मैंने अपनी चाहत को सांसारिक सुख-साधनों की प्राप्ति तक सीमित करके घटिया बना लिया।**

मैं चाहता हूँ सुख और यह भी नहीं जानता कि सुख है क्या? होश सम्भालते ही हम भूत और भविष्य का बोझा ढो लेते हैं और हमारा जीवंत वर्तमान आच्छादित हो जाता है। आज सुख की परिभाषा मैं आप सब जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रथम बार रखूँगा। काल की भूत, भविष्य और वर्तमान तीन विधाएँ हैं। **जीवन के वे क्षण जिनमें कुछ क्षणों के लिए हम अपने भूत और भविष्य को भूल जाते हैं, उसे सुख कहते हैं।** हम उस भूलने के पीछे कोई वस्तुगत या बाह्य कारण को थोप कर, उसे सुख का उत्तरदायी मान लेते हैं। हमें बहुत प्रिय व्यक्ति मिला, जिसे मिलते ही अपनी सुध-बुध खो बैठे, भूत-भविष्य सब भूल गए, तो उस क्षण में हमें सुख मिला। धन, पोस्ट, डिग्रियाँ, प्रौपर्टी, सन्तान आदि मिली तो सुख मिला। हम उन वस्तुओं की प्राप्ति को सुख और उनके खोने को दुःख मान लेते हैं। जबकि **सुख वह मानसिक स्थिति है, जिनमें हम कुछ क्षणों के लिए भूत और भविष्य भूल जाएँ और हमारा वर्तमान अनाच्छादित होकर जीवन्त हो उठे।**

हमारा प्रत्येक वर्तमान सुख-साधनों की प्राप्ति की दौड़ एवं स्पर्धा में

बोझिल व आच्छादित रहता है। हम कुछ न कुछ करते हुए हमेशा किसी न किसी प्रक्रिया में रत रहते हैं। सुख-साधनों की प्राप्ति की होड़ में हम अपना वर्तमान आच्छादित कर देते हैं और चाहते हैं–**सुख।** जब तक हमारा वर्तमान ढका रहेगा और हमारी प्रक्रियाएँ समाप्त नहीं होंगी, तब तक हमें सुख कैसे मिल सकता है?

हमारा जीवन दो विचार-धाराओं में ग्रसित है **'होगा'** और **'हुआ था'**–मेरा विचार है साल दो साल में ऐसा हो जाएगा (होगा)। दो वर्ष बाद मिले तो पता चला कि वह हो गया (हुआ था)। इस प्रकार जीवन **में** अनन्त भविष्य हैं। एक प्राप्त होता है, दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। यह **होगा** व हुआ **था–'गा' 'था'–'गाथा'** की श्रंखला आजीवन ही नहीं, जन्म-दर-जन्म चलती रहती है। **गाथा को कथा भी कहते हैं। इस गाथा में हम सबका यह अनुपम, विलक्षण, सुन्दरतम् दिव्य जीवन निरर्थक बरबाद होता रहता है।** हमेशा हम किसी न किसी गाथा में उलझे रहते हैं। यह गाथा चलती है, सुख की खोज में, लेकिन सुख इसलिए नहीं मिलता, कि वह मानसिक स्थिति बनती ही नहीं, जिसमें भविष्य (गा) और भूत (था) (**'गाथा'**) समाप्त हो जाएँ। कोई न कोई Process या प्रक्रिया चलती रहती है। जबकि हम विवेक, बुद्धि से विचार करें तो जान जाते हैं, कि जीवन में जिन प्राप्तियों को लेकर हम प्रसन्न होते हैं और कुछ देर के लिए सुखी होते हैं, उनका हमारी किसी प्रक्रिया (Process) से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ज़रा यह तो सोचिए कि इतनी उत्कृष्ट देह व जीवन मिला है, उसके लिए हमने कौन सी प्रक्रिया (Process) की। मैं अपने प्रवचनों में बार-बार बता चुका हूँ कि हमें अपने माँ-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी, घर, समाज, देश व स्कूल आदि स्वतः बने-बनाए मिले हैं, इनके लिए हमने कुछ नहीं किया।

जीवन में सब कुछ प्रकट होता है। क्या हम कह सकते हैं कि कल मैंने बारिश कराई, आज मैंने धूप निकाल दी ? अब सर्दी का मौसम लाने के लिए पर्वतों पर बर्फ जमाने का काम शुरू करना है, आदि-आदि। **हम व्यर्थ ही गाथाओं में व्यस्त रहते हैं, जबकि होता वही है जो मंजूरे-खुदा होता है।**

कहना यह चाहिए कि तू करता भी वही है जो मंजूरे ख़ुदा होता है। मूर्खतावश, अज्ञानवश, सत्संग के अभाववश हम यह समझते हैं, कि 'मैं कर रहा हूँ'। उसके बाद जो प्राप्ति होती है, उसके लिए हम यह समझते हैं कि यह मेरे कृत्य की वजह से हुआ है। अगर हमने मेहनत करके, **'गा' 'था'** में पड़ कर कुछ कमाया है, तो हमारे ही कुछ न कुछ करने से नुकसान भी हुआ। लेकिन हमारे वक्तव्य ऐसे ही होते हैं, कि इतना मैंने कमाया। नुकसान हो गया तो दोष किस्मत पर मढ़ देते हैं। हमारी हर सोच में अधूरापन है।

वस्तुतः सुख के क्षण वही होते हैं, जब वर्तमान अनाच्छादित होता है। जब कुछ प्रकाट्य होता है। जब भूत और भविष्य याद आता है, तो वे सुख के क्षण समाप्त हो जाते हैं। **इसी प्रकार दुःख भी वही मानसिक स्थिति है, जिन क्षणों में हम अपना भूत और भविष्य भूल जाते हैं।** किसी भारी संकट अथवा दुःख आने पर भी हमें सुध-बुध भूल जाती है, कुछ याद नहीं रहता। अतः सुख-दुःख दोनों की कार्यप्रणाली एक ही है। जहाँ आपका वर्तमान अनाच्छादित हो जाता है और भूत, भविष्य भूल जाता है एवं स्वतः जहाँ कुछ प्रकाट्य होता है। आप अपने बीते हुए पिछले 40 – 50 वर्ष की घटनाओं को 5 – 10 मिनिट में दोहरा लेते हैं। बीते कई वर्षों की कोई स्मृति आपको इसलिए नहीं रहती, क्योंकि आप किसी न किसी प्रक्रिया में लगे हुए थे। आपकी यह आई. क्यू. वाली बुद्धि (मानवीय बुद्धि) भी सारी गाथाओं को भूल जाती है। **हमारी स्मृति में केवल वही क्षण अंकित रहते हैं, जिनमें हम भूत और भविष्य भूल गए थे।** कुछ सुख के, कुछ दुःख के क्षण याद रह जाते हैं, क्योंकि इन दोनों ही क्षणों में हम अपने भूत और भविष्य को भूल जाते हैं। आँख, नाक, कान, त्वचा व जिह्वा किसी भी इन्द्रिय का सुख लेने से अथवा कुछ प्राप्ति करके जहाँ भूत, भविष्य भूला, तो सुख मिला। एक दिन ऐसा अवश्य आएगा, जब वे सुख-साधन नहीं होंगे अथवा इन्द्रियों में सुख लेने की क्षमता नहीं होगी, तब उस सुख की स्मृति दुःख का कारण अवश्य बनेगी और इसी प्रकार दुःख की स्मृति

महादुःख बनेगी। **यहाँ विवेक बुद्धि से मानव यह सोचने पर विवश होता है, कि सुख-दुःख के आगे भी कुछ है क्या? वह है देहातीत आनन्द। उसके लिए औपचारिकता है, कि हमारा भूत, भविष्य और वर्तमान, काल की तीनों विधाएँ लुप्त हो जाएँ और हम अपनी चेतना में हों।**

सुख और दुःख दोनों की स्मृति तभी होती है, जब भूत और भविष्य की विस्मृति होती है। उन क्षणों में जो खोया या पाया, हम उसे कारण मान लेते हैं कि इस वजह से मैं सुखी या दुःखी था। वास्तविकता यह है, कि **यह उस समय की मानसिक स्थिति थी, जो उस खोने या पाने के रूप में प्रकट हुई।** इसलिए महापुरुष अपना अधिकतर समय यज्ञ-हवन, ध्यान-समाधि, स्वाध्याय-प्राणायाम, दान-पुण्य, जप-तप आदि पुरुषार्थ कर्मों द्वारा अपनी मानसिकता को ऐश्वर्यमयी बनाने में व्यतीत करते हैं। जब मानस दुःखी होता है, तो आपके सम्मुख दुःख ही दुःख प्रकट होंगे, आप अवश्य कुछ खोएँगे। जब आपका मानस प्रसन्न होता है, तो स्वतः ही आपके सम्मुख प्रसन्नता की वस्तुएँ प्रकट होनी प्रारम्भ हो जाएँगी और आपको सुख प्रदान करेंगीः—

''जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना,
जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निदाना।''

इसलिए हमारा एकमात्र कर्म अपनी मानसिक स्थिति का निरीक्षण करना है, कि ''क्या मैं भीतर से प्रसन्न व आनन्दित हूँ?'' आनन्द की स्मृति नहीं होती, आनन्द की अनुभूति होती है। आनन्द देहातीत है, सुख-दुःख दैहिक हैं। **दुःख-सुख की स्मृति को जब ईश्वर से जोड़ देते हैं, तो वह स्मृति ही अनुभूति बन जाती है।** मैं अपने प्रवचनों में बार-बार यह इंगित कर चुका हूँ, कि ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है—**मानव-देह।** इस उत्कृष्टतम् मानव-देह को हम उन कामों के लिए भगा रहे हैं, जिनके लिए यह हमें नहीं मिली। ईश्वर ने सभी प्राणियों से पृथक् हमें एक अति चमत्कारिक व विलक्षण मानव-देह दी। **यह जाने बिना कि यह हमें मिली क्यों है, इस पर कब्ज़ा करके हमने इसे भगाना शुरू कर दिया। तो देह ने हमें उन**

विभूतियों के लिए भगाना शुरू किया जो हमारी ही धरोहर थीं और भीतर से ही प्रकट होतीं। ईश्वर का सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति व वैराग तो जीवात्मा को मिली देह में ठसाठस भरा था, क्योंकि जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है। लेकिन देह ने इन विभूतियों की प्राप्ति के लिए इसे इसलिए भगाना शुरू कर दिया, क्योंकि देह पर यह अनधिकृत कब्ज़ा कर बैठी। भगा-भगा कर देह एक दिन इसे छोड़ जाती है। किसी जन्म में सद्गुरु-कृपा से जीवात्मा व देह परस्पर समझौता करते हैं। **जीवात्मा देह से ही पूछती है, कि 'बता तू मुझे क्यों मिली है?' देह बहुत से शिकवे रखती है कि ''तेरा मालिक भी वही है जो मेरा मालिक है। लेकिन तूने उससे सम्पर्क ही नहीं किया यह जानने के लिए, कि मुझे उसने तुझे क्यों दिया है। जीवात्मा तू शाश्वत् है, मैं नश्वर हूँ। तू जन्म-मृत्यु से रहित है, मैं जन्म-मृत्यु के सहित हूँ। तूने कभी, यह जानने का प्रयत्न नहीं किया, कि मैं तुझे क्यों मिली हूँ?''**

जीवात्मा जब आर्तनाद करती है, कि 'मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ,' तो देह को इस पर दया आ जाती है, क्योंकि दोनों का स्वामी एक ही है। **देह कहती है ''तूने मेरा बहुत सुन्दर श्रृंगार किया, बहुत वातानुकूलित कमरों में रखा, एक से एक अमूल्य आभूषणों व वस्त्रों से अलंकृत किया। अब तू मेरा एक काम कर दे, मैं भी तेरा काम कर दूँगी। तू मुझे भस्मी का शाल ओढ़ा दे। मैं पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश पाँच तत्त्वों से बनी हुई, जन्म-मृत्यु में बँधी हुई हूँ। तू आसमान का तत्त्व है, मैं पृथ्वी की हूँ। जब मैं पाँच तत्त्वों में विलीन हो जाऊँगी, फिर मैं नहीं रहूँगी, मेरी भस्मी बन जाएगी। मेरी इच्छा है, कि तू मेरे रहते हुए, जीते जी मुझे उस भस्मी की शाल ओढ़ा दे। तू मुझ पर अपना कब्ज़ा छोड़ दे, फिर मैं तुझे बताऊँगी, मैं तुझे क्यों मिली हूँ।''**

जन्म क्यों हुआ, इसका उत्तर देह स्वयं देती है कि जीवन **में** भविष्य अनन्त हैं, सब गाथाएँ हैं और जीवन **का** निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य एक ही है और वह है—**भस्मी।** जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ है

क्योंकि किसी ने आज तक अपना स्वयं का जन्म व मृत्यु न देखी है, न देख पाने की सम्भावना है। अतः जन्म-मृत्यु के मध्य बँधी देह काल्पनिक-देह है और इसी देह में हम आजीवन कल्पनाओं या गाथाओं में घूमते हैं। इससे हम सुख की भी अनुभूति नहीं कर पाते, आनन्द तो बहुत दूर की बात है। जीवात्मा जो स्वयं में आनन्द-स्वरूप है, वह जीव बनकर सुखों के लिए भटकने लगती है। देह के रहते हुए पाँच तत्त्वों द्वारा निर्मित इस देह पर अपनी भस्मी की चादर ओढ़ा दें तो देह, **कल्पना** की देह से **यथार्थ-देह** में रूपान्तरित हो जाएगी। नश्वर देह, जीवात्मा के सम्मुख बहुत बड़ी माँग रखती है, कि **'तू मुझे शाश्वत् बना दे, मैं तेरी शाश्वतता का प्रकाट्य कर दूँगी।'**

जन्म और मृत्यु के दो काल्पनिक छोरों में बँधी, देह रूप में जीव, जीवात्मा का काल्पनिक रूप है। जीव है नहीं। जीवात्मा जब अपने स्वरूप में जाग्रत होती है तो सम्पूर्ण जगत उसे स्वप्नवत् लगता है। स्वप्न देखने वाली एवं स्वप्न सुनाने वाली दोनों ही देह स्वप्न की ही हैं। दोनों एक दूसरे का रूपान्तरण हैं। **दोनों में कोई सम्बन्ध या निरन्तरता (Continuty) नहीं है। जीवात्मा एक ही है और यदि जीव है, तो वह भी एक ही है। जीव बनी नाम-रूप की काल्पनिक देह जो जन्म-मृत्यु के दो काल्पनिक छोरों में बँधी थी। जो पहले थी नहीं, जो रहेगी नहीं, वह है भी नहीं।** मुझे मिथ्याध्यास हो गया कि **'मैं देह हूँ'** बस मैंने देह को ही अपना स्वरूप मान लिया और कल्पना में अनेक परिकल्पनाएँ होती रहीं। **'मैं भस्मी हूँ'** यह यथार्थ है। जो होगा ही उसे समझ लो, कि हो गया। **यह कल्पना यथार्थ है, क्योंकि वह हमें यथार्थ में ले आएगी। 'भस्मी' मेरा ऐसा भविष्य है, जो निश्चित है और जिसे, जब मैं वर्तमान में आत्मसात् करता हूँ तो मेरा भूत, भविष्य और वर्तमान काल, की तीनों विधाएँ लुप्त हो जाती हैं।**

प्रश्न उठता है, कि काल्पनिक देह का भविष्य यथार्थ क्यों है? जन्म और मृत्यु काल्पनिक हैं तो भस्मी भी तो काल्पनिक हुई, क्योंकि यदि मृत्यु

नहीं होगी तो भस्मी कहाँ से बनेगी? हम विचार करें तो पाते हैं, कि भस्मी जन्म और मृत्यु के छोरों से बाहर है। जब वह भविष्य आता है तो देह नहीं रहती, वह पाँच महाभूतों में विलीन हो जाती है और अवशेष रहता है, वह तत्त्वातीत तत्त्व, जिसका न कोई भविष्य है, न भूत है और न ही वर्तमान है। **भस्मी रूप में उस यथार्थ की अवधारणा करके मैं अपनी काल्पनिक-देह से यथार्थ देह में प्रविष्टि पाता हूँ। क्योंकि जो मेरी देह का भस्मी रूप भविष्य है, उसका अतीत मेरी देह नहीं है। उस भविष्य से जीते जी आत्मसात् होने के बाद, जो पहले मेरी देह थी, अब वह मेरी देह न रह कर 'तेरी' देह हो जाती है। सब देहों की भस्मी सबकी एक ही है:—**

''रूह और जिस्म का रिश्ता भी क्या रिश्ता है,
उम्र भर साथ रहे मगर तआरुफ़ न हुआ।''

साथ तो क्या रहे एक दूसरे से कटे-कटे रहे। दोनों का मालिक एक है, इसलिए दोनों सशक्त हैं। देह कहती है, कि ''तुमने मुझ यथार्थ देह को जन्म-मृत्यु में बाँध कर काल्पनिक देह बना दिया।'' कल्पना की देह पर जब जीवात्मा ने अधिपत्य किया तो वह तुच्छ सा जीव बन गई। उस कल्पना में जीव अनेक कल्पनाएँ व गाथाएँ रचने लगा, कि यह मेरी माँ, यह मेरे पिता, यह मेरी पत्नी, यह मेरे बच्चे, मेरा धन, प्रौपर्टी, डिग्रियाँ, पद, प्रतिष्ठा, समाज, देश और न जाने क्या-क्या। जब देह और जीवात्मा का समझौता हो गया तो देह ने अपने सारे रहस्य जीवात्मा के सामने अनावृत करने प्रारम्भ कर दिए, कि **''तू शाश्वत् है, मैं नश्वर हूँ, मैं रूप बदल-बदल कर तेरे साथ रहती रही। जन्म मेरा हुआ और मृत्यु मेरी होगी। न तेरा जन्म हुआ, न तेरी मृत्यु होगी।** मेरे पास विवेक, मेधा, प्रज्ञा, ऋतम्भरा चार दिव्य बुद्धियाँ भी हैं, जो मैंने तुझसे छिपा दी थीं, क्योंकि तूने मेरे ऊपर कब्ज़ा कर लिया था। वाह-वाह करने वाली आई. क्यू. वाली बुद्धि से मैंने तुझसे हाय-हाय करवाई।''

जीवात्मा आर्तनाद करती है कि ''तुम अब तो हाय-हाय नहीं करवाओगी?'' कि ''नहीं। बस तू मुझे अपनी भस्मी की शाल ओढ़ा दे। **तू**

मेरी मृत्यु से भी जीते जी निपट ले, पिण्ड छुड़ा ले, तू भस्मी से जुड़ जा। यही एक कर्म है जिसके लिए मेरा (देह का) जन्म हुआ है कि तू मुझे यथार्थता की चादर ओढ़ा दे।'' दूसरा प्रश्न था कि मैं क्या करूँ? बस यही एकमात्र कर्म है। शेष सब कुछ स्वतः ही हो रहा है। सूरज उगता है, हवा चलती है, जन्म होता है, मृत्यु होती है, मध्य में भी सब कुछ हो रहा है। **जो प्रभु ने हमसे करवाना है, प्रभु स्वयं प्रेरित करेंगे और करवा लेंगे।**

जन्म और मृत्यु की देह में जब हम चलेंगे, इसे मानेंगे, मनवाएंगे, बँधेंगे, बँधवाएँगे तो हम अवश्य कलपते रहेंगे। **इस देह को जब आप भस्मी की चादर ओढ़ा देंगे तो वह देह जो आपको भगा रही थी, आपकी हो जाएगी।** इस पंच-तत्त्वों की देह का भविष्य देहातीत है और तत्त्वातीत है और उस भविष्य में उतरने के बाद यह देह यथार्थ हो जाती है। **मैं इस देह से ही फँसा हूँ और मैंने निकलना भी इसी से है।** मैं इस पंच-महाभूतों की देह से ही खोया था और मुझे इसी से अपना स्वरूप ढूँढना है। **जीवात्मा से जीव बना इस पंच महाभूतों की देह को 'मैं' मानकर।** जिस देह के साथ अध्यास हुआ कि 'मैं यह देह हूँ' **उसी देह को जागृति में, अपने ध्यान में, जलते देख रहा है और पंच महाभूतों में लीन होकर भस्मी बनते हुए देख रहा है। जब ध्यान में आप अपनी पंच-महाभूतों की देह को भस्मित देखेंगे** तो आप देह से परे होकर देहातीत हो गए। उस स्थिति में क्षण भर के लिए जीव अपने जीवात्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसका जीवात्मा स्वरूप जाग्रत हो जाता है। **अब देह तो है और भस्मी भी है, तो देह का यथार्थ स्वरूप जाग्रत हो जाता है। वही काल्पनिक देह यथार्थ देह में रूपान्तरित हो जाती है।**

भस्मी सारे ब्रह्माण्ड की एक ही है। भस्मी किसी नाम-रूप को नहीं पहचानती। जैसे ही उस भस्मी को अपनी इस देह में जीवात्मा आत्मसात् करेगी तो इसकी देह यथार्थ हो जाएगी, जो भूत, भविष्य व वर्तमान, काल की तीनों विधाओं से परे, कालातीत होगी। यह कालातीत-काल में विचरेगी, इसके

सम्बन्धातीत-सम्बन्ध होंगे, कर्मातीत कर्म, धर्मातीत-धर्म, कर्तव्यातीत-कर्तव्य होंगे। इस प्रकार वह तथाकथित मायिक देह, मायातीत हो जाएगी।

जन्म-मृत्यु से बँधी इस काल्पनिक देह को मैंने पाया तो **'मैं'** खो गया और इसके होते हुए **जब मैं इसको खोऊँगा तो 'मैं' स्वयं को पा जाऊँगा।** मैं इस पंच-महाभूतों की देह का आनन्द तभी ले पाऊँगा जब मैं इससे अतीत हूँगा। इसमें लिप्त होकर मैं इसका आनन्द कभी नहीं ले पाऊँगा। **तब मेरी यह देह, देह सी होगी। पहले यह देह ही थी।** पहले मैं **जीव सा** था (क्योंकि जीव स्वयं में है ही नहीं) क्योंकि मेरे लिए सब कुछ **देह ही** थी। **'मैं' इस देह को पा के खोया था, इसे जीते जी खो के 'मैं' स्वयं को पा जाऊँगा।** आज हम इस व्यास-गद्दी से की जा रही प्रार्थनाओं का रहस्योद्घाटन कर रहे हैं। हमारी प्रार्थना के दो चरण हैंः—

प्रथम चरण—''हे प्रभु ! मुझे बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धनहीन कर दो'' **और**

द्वितीय चरण—''अपनी बल-बुद्धि-विद्या, अपनी समर्थ-शक्ति तथा अपने तन-मन-धन से मेरा जीवन चलाओ।''

प्रथम चरण में प्रभु से तन-मन-धनहीन, असमर्थ, अशक्त और बल-बुद्धि-विद्याहीन करने की याचना की गई है। आपकी इसी देह का एक स्वरूप ऐसा है जिसमें आप स्वयं में बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-धनहीन होते हैं, वह है, देह का अन्तिम परिलक्षित भविष्य —**'भस्मी'**। अरे ! इस देह का प्रयोग नित्य उस भस्मी की अवधारणा करने के लिए करिए। ''हे प्रभु ! तुम जानते हो कि मैंने पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, कुछ नहीं किया। मैं कर्मों से नहीं, कर्म-बन्धनों से फँसा हूँ। बार-बार जन्म लेता हूँ, मरता हूँ। अब तुम मुझे बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धनहीन कर दो, ताकि मैं कुछ करने योग्य ही न रहूँ।'' यही आपकी भस्मी की अवधारणा है। तो यह प्रार्थना करते-करते एक दिन आपकी प्रार्थना स्वीकार हो जाती है और प्रभु आपको भस्मी की अवधारणा में स्थिति दे देते हैं। आप मानसिक रूप से

भस्मीभूत हो जाते हैं। **तब जो देह होगी वह आपकी नहीं होगी और प्रार्थना का द्वितीय चरण स्वतः ही क्रियान्वित हो जाएगा। प्रभु अपनी बल-बुद्धि-विद्या, समर्थ, शक्ति और तन-मन-धन से आपका जीवन चलाएँगे।** जब भस्मी आपके जीवन्त वर्तमान में ओढ़ ली जाएगी (जो बिना इष्ट व सद्‌गुरु-कृपा के सम्भव नहीं है) तो वह भस्मी, जिसका कोई भूत, भविष्य व वर्तमान नहीं, वह आपके वर्तमान में आते ही आपको भी भूत, भविष्य व वर्तमान से परे, अकाल में स्थित कर देगी। आपका जीवन आनन्दमय हो जाएगा। आपकी यथार्थ देह शिवरूपा है, जन्म-मृत्यु से परे है। यह आपकी ही देह है, इसका प्रकाट्‌य करना होगा।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश पाँचों महाभूत भौतिक व मायिक हैं। ये क्रमशः समान, उदान, अपान, प्राण एवं व्यान प्राणों की छाया हैं। आसमान तो हमें सपने में भी दिखाई देता है, सपने में भी पृथ्वी, जल, वायु आदि होते हैं। स्वप्न से जगने पर वे पंच-महाभूत कहाँ जाते हैं? मानव-देह भी इन्हीं पंच-तत्त्वों से निर्मित, पालित है तथा इन्हीं में लीन हो जाती है। पंच-महाभूत भौतिक हैं और पंच-महाभूतों की यह देह, मेरी कारण-देह (वास्तविक यथार्थ देह) की प्रतिनिधि थी। **जब जीवात्मा ने इस पर अधिपत्य कर लिया कि 'मैं यह देह हूँ', तो अपने यथार्थ और देह के यथार्थ, दोनों को भूल गयी। एक तुच्छ जीव बन इसी को आधार बनाकर इसने जीव-सृष्टि बनाई, जो काल्पनिक थी। जब देह इन्हीं पाँच तत्त्वों का उल्लंघन कर, अपने तत्त्वातीत तत्त्व, भस्मी की चादर ओढ़ लेगी तो देह, काल्पनिक देह से यथार्थ देह में रूपान्तरित हो जाएगी। जीवात्मा की विभूत्यातीत विभूति 'वैराग' प्रकट हो जाएगी। जब वैराग प्रकट हो जाएगा तो जीव अपने जीवात्मा-स्वरूप को प्राप्त कर लेगा।**

जब भस्मी होगी और देह भी होगी तो वह ईश्वरीय देह होगी, जिसमें बल, बुद्धि, विद्या, सामर्थ्य, शक्ति, तन, मन, धन सब कुछ ईश्वर का ही होगा। वह दिव्य देह होगी, वह जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधी काल्पनिक देह नहीं होगी। वह यथार्थ देह होगी, जो ईश्वर की ही

तरह देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत व माया के तीनों गुणों से अतीत होगी। **जन्म और मृत्यु की हदों के पार ही वास्तविक मानव-जीवन का आरम्भ होता है। तभी मानव-देह में भगवत्ता का प्राकट्य होता है।** महापुरुषों, आरिफ़ों, पीरों, पैगम्बरों की देह में विशेष ईश्वरीय आकर्षण पैदा हो जाता है, उसी देह में अजरता-अमरता प्रकट हो जाती है। वे लीला में खेलते हैं।

प्रकृति ईश्वर की छाया है, माया है। करोड़ों ब्रह्माण्ड उसी प्रकृति में बने हुए हैं, यह ईश्वरीय सत्ता है। पहले जीवात्मा को इसी में **राग** था और वह इसी प्रकृति अथवा सत्ता की (सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति) पाँच विभूतियों की प्राप्ति के लिए लालायित थी। अब इसे इनमें कोई रुचि नहीं रहती, क्योंकि भस्मी से आत्मसात् होने पर उसकी ये विभूतियाँ स्वतः उसके चरणों में आने लगती हैं। वह इस प्रकृति से हटी तो उसमें विभूत्यातीत विभूति **'वैराग'** प्रकट हो गयी। समस्त सांसारिक मोह अब ईश्वर के मोह में रूपान्तरित हो गया। **संसार में इसकी आसक्ति ही ईश्वरीय भक्ति में बदल गई।** जीवात्मा को अब ईश्वर के स्वरूप से प्रेम हो गया। अब वह अपने स्वरूप, अपने इष्ट से मिलना चाहती है, जिसका वह अंश है यह ईश्वर की कामना ही **भक्ति** है।

भक्ति स्वयं में बहुत बड़ा विषय है। पराशक्ति, महामाया या ईश्वर की भगवत्ता, भक्ति स्वरूपा है। ईश्वर की भगवत्ता का प्राकट्य अनेक रूपों में होता है, **जिसके विभिन्न रूपों की चार मुख्य विधाएँ हैं। क्रियारूप, संज्ञारूप, विशेषण रूप और विशेष्य-विशेषण रूप।** एक भक्ति की जाती है। जप-तप करना, अपने इष्ट के बारे में चर्चा करना व सुनना, यज्ञ-हवन मात्र इष्ट को पाने के लिए करना। **यह है भक्ति-प्रकरण, यहाँ भक्ति क्रिया है।** अब, जब भक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह भक्त कहलाने लगता है, तो भक्ति संज्ञा बन जाती है। इस स्थिति में **आप भक्त भी हैं।** फिर जब **आप भक्त ही बन** जाते हैं, तो भक्ति आपका विशेषण बन जाती है। भक्ति **क्रिया** से आरम्भ हुई, जब इसने आकार लिया तो **संज्ञा** बन गई और भक्ति आपके

साथ सुशोभित होने लगी। आपका अलंकार बन गई, तो **विशेषण** हुई। जब किसी विशेष इष्ट की भक्ति मिली तो इसे कहा है **विशेष्य-विशेषण,** कि ये हनुमान जी के भक्त हैं। **क्रिया रूप में अवचेतन मन में परा प्राकृतिक ऋद्धियों-सिद्धियों की लालसा होती है, संज्ञा-रूप में सिद्धियों की प्राप्ति होती है, विशेषण-रूप में सिद्धियों का भोग होता है और विशेष्य-विशेषण रूप में इष्ट का अनुराग मिल जाता है।**

भक्ति जब स्वरूप लेती है, तो राधा या सीता बन जाती है। ईश्वरीय प्रेम जब साकार होता है, तो राधा या सीता के रूप में अवतरित होता है। ईश्वरीय प्रेम **की धारा ही राधा है।** ईश्वर की भक्ति जब प्राप्त हो जाती है, तो भक्ति सजग होकर जानना चाहती है, कि यह भक्त मेरे आराध्य **राम** या **कृष्ण** को क्यों चाहता है। **यह भगवान को पाना चाहता है या उसकी भगवत्ता का इच्छुक है।** किसी उच्च अधिकारी से आपका प्रेम उसके पद की गरिमा व विभूतियों के कारण है या उससे, उसी के कारण प्रेम है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह भक्ति परीक्षण करती है। **भक्ति ईश्वर की शक्ति है, जो परीक्षण करती है, कि भक्त भगवान को चाहता है या उसकी शक्तियों या भगवत्ता को चाहता है।** भक्ति, समस्त भगवत्ता को उसके सम्मुख रख देती है, जिससे भक्त में ईश्वरीय विभूतियाँ आ जाती हैं। जो ईश्वर कर सकता है, वह भी वही सब कर सकता है। भक्ति की अपनी विभूतियाँ हैं। भक्ति की विभूतियाँ ईश्वरीय स्वरूप की विभूतियाँ हैं। ईश्वर की निजी शक्तियाँ हैं। सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करने वाली सद्-संकल्प शक्तियाँ हैं।

वैराग पर **राग** का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। **'वैराग' का प्रतिदान-उपहार 'अनुराग' है, वह भक्ति के ज़रिए ही मिलता है।** भक्त ईश्वर से प्रेम के बदले प्रेम चाहता है। भक्त की भक्ति जब परिपक्व हो जाती है, तो **'भक्ति'** ईश्वरीय निजी विभूतियाँ इसके सम्मुख रखनी प्रारम्भ कर देती है। वस्तुतः ईश्वर का मिलन भक्ति के माध्यम से ही होता है। लेकिन पहले भक्ति, भक्त का परीक्षण करती है, कि यह मेरे आराध्य भगवान को चाहता है

अथवा ईश्वरीय भगवत्ताएँ चाहता है। वह ईश्वरीय समस्त शक्तियाँ भक्त के सम्मुख परोस देती है कि तू जो चाहे ले ले। **इस क्षेत्र में बहुत बड़े-बड़े साधक भी इन्हीं में फँस जाते हैं और ईश्वरीय अनुराग से वंचित हो जाते हैं। जन्मों-जन्मान्तरों तक वे इन्हीं ईश्वरीय विभूतियों के मायाजाल में फँसे रहते हैं।** उनको ईश्वरीय अधिकार मिल जाते हैं। वे जो चाहे प्रकृति में परिवर्तन कर सकते हैं। नई सृष्टि रच सकते हैं। विश्वामित्र ने समानान्तर नई सृष्टि रचनी प्रारम्भ कर दी थी।

मोक्षार्थी व ईश्वरीय अनुराग के इच्छुक जो साधक हैं, वे इनमें नहीं फँसते। इसके लिए उत्कृष्टतम उदाहरण हैं, श्री श्री हनुमान जी। जो भक्ति-स्वरूपा माता सीता के पास लंका की अशोक वाटिका में राम जी की अँगूठी लेकर जाते हैं। माता सीता हनुमान जी पर विशेष प्रसन्न होकर उन्हें सम्पूर्ण ईश्वरीय विभूतियों को आशीर्वाद-स्वरूप प्रदान कर देती हैं:–

''अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता, अस वर दीन्ह जानकी माता।''

कि हे पुत्र ! तू अष्ट सिद्धियों और नौ निधियों का **दाता** हो जाएगा। तेरे पास तो ये होंगी ही, तू जिस पर प्रसन्न हो उसे भी, जो चाहे दे सकता है। यह वरदान पाकर हनुमान जी विशेष प्रसन्न नहीं हुए। माता सीता हनुमान जी को प्रसन्न करना चाहती थीं क्योंकि श्रीराम का सन्देश देकर उन्होंने माता को विशेष प्रसन्न किया था, तो उन्होंने और आशीर्वाद दिए:–

''आशिष दीन्ह राम प्रिय जाना, होहु तात बल शील निधाना।''

माता सीता ने परम प्रसन्न होकर हनुमान जी को श्रीराम का प्रिय जानकर बल और शील का भण्डार होने का वरदान दिया। प्रत्येक प्रकार की शक्तियाँ आ जाने पर अक्सर सूक्ष्म अभिमान जाग्रत हो जाता है, लेकिन हनुमान जी को शक्तियों के साथ विनम्रता व शील का दुर्लभ वरदान मिला। **हनुमान जी ने माता का मान रखते हुए हाथ जोड़ दिए। अब भक्ति-स्वरूपा माँ भवानी सीता ने अजरता, अमरता व सद्‌गुणों की निधियों के वरदान दिए कि ''अजर अमर गुणनिधि सुत होउ।''** भक्ति-स्वरूपा माँ

सीता बिना भगवान से पूछे भगवान की समस्त विभूतियाँ हनुमान जी को दे देती हैं। जब इस पर भी हनुमान जी विशेष प्रसन्न नहीं हुए तो भक्ति का समस्त अहं गलित हो गया। जो-जो वरदान वे दे सकती थीं, जहाँ तक उनका कार्यक्षेत्र था, भगवान की समस्त निजी शक्तियाँ भी माता सीता ने दे दीं। **लेकिन वैरागी, मोक्षार्थी भक्त ने उन्हें कोई महात्म्य नहीं दिया, क्योंकि वह भगवान के अनुराग का इच्छुक था।**

प्रकृति रूपा माया या सत्ता भगवान की छाया है और **भक्ति** भगवान की निजी शक्ति व भगवत्ता है, जिसके द्वारा प्रभु सम्पूर्ण सत्ता का प्रकटीकरण करते हैं। अतः अनुराग अथवा मोक्ष की उपलब्धि से पहले यह जाँच स्वयं भगवान की शक्ति, भक्ति करती है, कि **साधक भगवान का प्रेम भगवान के लिए चाहता है अथवा उसकी भगवत्ताओं व शक्तियों की प्राप्ति की चाह में उसका प्रेम चाहता है। हालाँकि भगवत्ता, भगवान से पृथक् नहीं है, लेकिन भक्त की नीयत का परीक्षण माँ भगवती करती हैं। अनेक साधक इन्हीं शक्तियों में मग्न होकर भगवान को भूल जाते हैं।** माता सीता ने जब देखा कि हनुमान जी भगवत्ताओं के प्रलोभन में नहीं आए, तो किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह आराधना, आराध्य का ध्यान करती है, कि मैं इस अनुपम व विलक्षण भक्त को प्रसन्न कैसे करूँ ? तो श्रीराम की प्रेरणा से उन्होंने हनुमानजी को श्रीराम का अनुराग प्रदान किया:–***''करहु बहुत रघुनायक छोहू''***

भगवान, अति कृपा द्वारा ही अपना अनुराग प्रदान करते हैं। भगवान का अनुराग ही मोक्ष है। यह तब मिलता है, जब भक्त भगवान की सत्ता और भगवत्ता दोनों से विरक्त हो, उसका प्रेम चाहता है:–

''तू मेरा साहिब रहमाना, मैं तेरा दीदार दीवाना।''

''तू मुझे खुशी दे या ग़म, ये तेरा अख़्तियार है,
हम बेनियाज़ हो गए झोली पसार के।''

इसलिए हनुमान जी रामानुरागी हो, कृत-कृत्य हो गए:–

''करि प्रभु कृपा सुनिऊ अस काना, निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।''

''प्रभु राम, तुझे बहुत प्रेम करें'' यह वरदान तो माता सीता ने दिया, लेकिन हनुमान जी समझ गए कि प्रभु की कृपा से ही मुझे प्रभु का अनुराग मिला है। इसीलिए कहते हैं ***''करि प्रभु कृपा सुनिऊ अस काना''*** भक्ति-स्वरूपा माँ सीता के द्वारा प्रभु ने वरदान दिलवाया है, तो हनुमानजी माँ सीता के चरणों में पुनः पुनः शीश झुकाते हुए आभार प्रकट करने लगेः—

''बार-बार नाएसि पद सीसा, बोला वचन जोरि कर कीसा
अब कृत कृत्य भयहु मैं माता, आशिष तव अमोघ विख्याता।''

माँ, यह आपने जो आशीर्वाद दिया कि प्रभु, मुझे प्रेम करेंगे तो आपका आशीर्वाद जैसा जगत में विख्यात है, कभी व्यर्थ जा ही नहीं सकता। फिर हनुमान जी साधारण माँ के अति साधारण पुत्र बन गए, कि माँ मुझे भूख लगी है, क्या मैं फल खा लूँ? भक्ति-स्वरूपा माँ सीता भगवान की अर्द्धांगिनी भी साधारण माँ बन कर हनुमान जी की सुरक्षा के विषय में चिन्तित हो गईं, यद्यपि कुछ देर पहले उन्हें अजरता, अमरता एवं बलशाली होने का वरदान दे चुकी थीं। भक्त का अपने आराध्य के प्रति इतना विलक्षण समर्पण व प्रेम देखकर आराधना-स्वरूपा माता सीता अपने समस्त वरदान व उनकी शक्तियों को भूल गईं। इसलिए हनुमान जी के फल खाने की इच्छा व्यक्त करने पर कहती हैंः—

''सुन सुत करहिं विपिन रखवारी, परम सुभट रजनीचर भारी।''

कि बेटा ! यहाँ के रखवाले बड़े सशक्त राक्षस हैं, वे तुझे मारेंगे। तो हनुमान जी भी उन्हीं के भावानुसार उनका सम्मान रखते हुए उत्तर देते हैंः—

''तिन्ह कर भय माता मोहि नाहिं, जो तुम सुख मानहुँ मन माँहि।''

वे यह नहीं कहते कि अभी तो तुमने मुझे अजरता, अमरता का वरदान दिया है, तो ये मुझे कैसे मारेंगे, बल्कि आज्ञाकारी पुत्र के स्वरूप में वे कहते हैं कि माँ, यदि तुम्हें मन में सुख है, कि मैं फल खाऊँ तो इन राक्षसों का भय मुझे नहीं हैः—

''देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहहु जानकी जाहू,
रघुपति चरण हृदय धरि, तात मधुर फल खाहू।''

माँ सीता ने कहा कि ''प्रभु राम के चरणों को हृदय में रख कर हे पुत्र ! तू मधुर फल खा।'' यहाँ अपनी चर्चा माँ सीता ने नहीं की। इसका स्पष्ट अर्थ है, कि भक्ति की समस्त शक्ति का अहं विगलित हो गया। इसलिए प्रभु, भक्ति से ही अनुराग का वरदान दिलाते हैं। वैराग विभूत्यातीत विभूति है और **वैराग्यातीत विभूति है—अनुराग।** जब ईश्वर का प्रेम प्राप्त हो जाता है, तो बीच के प्रकरण भी समाप्त हो जाते हैं। फिर भक्ति क्रिया, संज्ञा, विशेषण से मात्र विशेष्य-विशेषण बन जाती है। जैसेकि जब लड़का-लड़की का विवाह हो गया तो बारातियों का महात्म्य नहीं रहता। इसी प्रकार ईश्वर और जीवात्मा, फिर एक होते हुए भी द्वैत में खेलते हैं। फिर दान-पुण्य, यज्ञ-हवन, जप-तप आदि बारातियों की भाँति गौण हो जाते हैं। तदुपरान्त समस्त प्रक्रिया और प्रकाट्य सब लुप्त हो जाता है। बुद्धि की स्मृतियों का भी समर्पण हो जाता है। मात्र जो आपकी रूह में अंकित है, जिनसे जीवात्मा स्वयं ओत-प्रोत है, वही शेष रह जाता है। **युगों-युगान्तरों का देहाभास ही समाप्त हो जाता है और भस्माभास हो जाता है। एक बार आवरण हटता है, तो दोबारा नहीं पड़ता**ः—

''ऊँकार बिन्दु संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः,
कामदं मोक्षदं चैव ऊँकाराय नमो नमः।''

'ऊँ' का जो योगी ध्यान करते हैं वहाँ अर्थ और धर्म, पुरुषार्थ के प्रथम दो सोपान पहले ही समाप्त हो जाते हैं। जीते जी सद्गुरु-कृपा से भस्मी की अवधारणा होते ही वैराग धारणा में आ जाता है, जो धर्म है। फिर ईश्वरीय भक्ति जाग्रत हो जाती है। **ईश्वर की कामना ही पुरुषार्थ का तृतीय आयाम 'काम' है,** ईश्वर की कामना भक्ति ही मोक्ष का द्वार है। इसलिए **'कामदं मोक्षदं'** कहा गया। अपनी भौतिक इच्छाओं और विभिन्न कामनाओं की पूर्ति की चाहत में ईश्वर की मान्यता और पूजा, भक्ति नहीं है। लेकिन सांसारिक राग में भी जहाँ ईश्वर से सम्मुखता हो जाती है, वहाँ पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है। **यह राग या स्वार्थ ही पुरुषार्थ का प्रथम सोपान—'अर्थ' है।** फिर जीवन-काल में सद्गुरु-कृपा से भस्मी की

अवधारणा सिद्ध होने पर विभूत्यातीत विभूति **'वैराग'** जाग्रत होता है, **जो पुरुषार्थ का द्वितीय सोपान—'धर्म'** है। यदि धर्म केवल धारणा होता तो वह धर्म न होता, वह आपकी धारणा है। इष्ट-कृपा से भस्मी की अवधारणा परिपक्व होने पर **वैराग की धारणा** अथवा वह भस्मीमय मानसिक स्थिति ही **'धर्म'** है। उसके बाद ईश्वर से प्रेम प्रकट होगा। परिपक्व वैराग के बाद ही भक्ति ईश्वरीय कामना के लिए की जाती है। जीवात्मा को प्रभु से प्रेम हो जाता है और अब वह प्रभु के अनुराग का इच्छुक हो जाती है। अन्तिम परीक्षण माँ भगवती द्वारा होता है और तब ईश्वर का अनुराग या मोक्ष मिलता है। अनुराग के सोपान पर जीवात्मा सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा कैवल्य, पाँचों मोक्षों की अधिकारी हो जाती है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(18 सितम्बर, 2005)

प्रक्रिया और प्रकाट्य

हमारा जीवन, जन्म और मृत्यु के दो काल्पनिक किनारों से बँधा है। किसी ने अपना जन्म नहीं देखा और किसी ने अपनी स्वयं की मृत्यु भी नहीं देखनी। लेकिन फिर भी देह के नाम-रूप से स्वयं को पहचान कर हम आजीवन, देह व देह पर आधारित जगत के लिए कुछ न कुछ करते रहते हैं। यह हमसे बहुत बड़ी भूल हो जाती है, कि हम इन्द्रियों के सुखों के लिए सुख-साधन एकत्रित करने और वैराग को भूल कर अपनी ही स्वरूपगत पाँच ईश्वरीय विभूतियों—सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति को भौतिक पदार्थों और वस्तुओं में देखने की दौड़ में लगे रहते हैं। आजीवन हम कोई न कोई भविष्य खड़ा करके उसकी प्राप्ति के लिए कार्यरत रहते हैं, इस आशा के साथ कि **ऐसा कर रहा हूँ, तो ऐसा होगा।** उन कृत्यों के कारण और कर्त्ता भी हम स्वयं बन जाते हैं। जबकि सृष्टि में एक पत्ता भी ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं हिलता। साथ ही हमारा कोई भी कृत्य व्यक्तिगत है ही नहीं। एक छोटे से छोटे कार्य के लिए हमें सम्पूर्ण सूक्ष्म-जगत की अनुकूलता व सहायता अपेक्षित होती है।

जो कृत्य हम करते हैं, वे भी ईश्वर द्वारा ही प्रेरित, संचालित व सम्पादित होते हैं। जो कुछ हमें प्राप्ति होती है अथवा हम खोते हैं, उसका हमारे द्वारा किए गए कृत्यों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। **सब कुछ हमारे सम्मुख प्रकट होता है।** जैसेकि हमें अपनी देह, माता-पिता, भाई-बहन, पति, पत्नी, सन्तान, रहने का स्थान, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश स्वतः मिले। इनकी प्राप्ति के लिए हमने कोई कृत्य नहीं किया। हमें असंख्य लोग

मिलते हैं, बिछुड़ते हैं। कभी लाभ होता है, कभी हानि होती है। कभी सुख मिलता है, कभी दुःख मिलता है। विभिन्न मानसिक स्थितियों में बहुरंगी प्रकटीकरण होता है। खोना और पाना दोनों ही प्रकाट्य हैं। हमारे द्वारा हुई किसी भी प्रक्रिया या कर्म से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

जो कृत्य प्रारब्धवश अथवा अन्यथा, हम तथाकथित रूप से कर भी रहे हैं, वे भी वास्तव में हमसे करवाए जा रहे हैं। एक उपलब्धि की हमें आकांक्षा रहती है, कि अमुक कार्य होगा या अमुक प्राप्ति होगी। ख्याति, शक्ति, ऐश्वर्य, ज्ञान, सौन्दर्य किसी भी रूप में अथवा किसी सुख-साधन के रूप में हम कभी कुछ पाते हैं, कभी कुछ खोते हैं। इसी प्रक्रिया में हम कार्यरत रहते हैं। **जब वह प्राप्ति हो जाती है, तो हम कहते हैं, कि ऐसा हुआ था। पहले उस प्राप्ति के लिए हम कहते हैं, कि 'होगा' फिर कहते हैं, कि 'हुआ था'।** वस्तुतः हम भविष्य के लिए नहीं चलते, बल्कि उस भविष्य को ढोकर चलते हैं। हम आत्मविश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा, कि जिसे हम मिलना चाहते हैं, उससे कल्पना में पहले मिल लेते हैं। उससे बातें करनी शुरू कर देते हैं, कि मैं उससे यह कहूँगा, वह कहूँगा आदि-आदि। जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं, उसे पहले ही मानसिक तौर पर कल्पना में पा बैठते हैं। **परिणामस्वरूप किसी भी कार्य की प्रक्रिया के दौरान हमें अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति की चिन्ता नहीं होती, बल्कि उसके खोने की चिन्ता रहती है। क्योंकि हम अज्ञात रूप से मानसिक तौर पर उसे प्राप्त कर बैठते हैं। कालान्तर में, शीघ्र ही अथवा विलम्ब से बाह्य जगत में कुछ पाने या खोने के रूप में घटना घटती है। तो हम यह मान लेते हैं, कि मेरे अमुक कृत्य से मुझे यह वस्तु प्राप्त हो गई अथवा मैं अमुक कृत्य के कारण उस वस्तु को नहीं पा सका। जबकि पाने या खोने का हमारे द्वारा किए गए कृत्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।**

माँ के गर्भ में एक बच्चा आता है। 9 महीने व 7 दिन बाद जब उसका जन्म होता है, तो उसका जन्म **प्रकाट्य** है। वह 9 महीने 7 दिन में माँ के द्वारा की गई किसी प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। कइयों का मध्य में ही

बच्चा नहीं रहता, कई चाहते कुछ और हैं, मिलता कुछ और है। कोई भी प्रकाट्य या तथाकथित उपलब्धि ईश्वर की कृपा से होती है। यह जो प्रक्रिया दृष्टिगत होती है, कि 'मैं गर्भवती हूँ' अब छठा महीना है, अब नौंवा, अब शिशु जन्म लेने वाला है—यह प्रक्रिया ईश्वरीय सत्ता अथवा प्रकृति में स्वतः चल रही है। सब कुछ क्षण-क्षण हमारे लिए विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहता है। यह **'गा' 'था'** हमारी अपनी कल्पना की गाथा है। भूत और भविष्य हमारी निराधार सोच है। **प्रकृति में, जिसमें मेरी अपनी देह भी है, स्वतः ही सतत् एक प्रक्रिया चल रही है, जिसका कारण ईश्वर है।** मैं कुछ चाहता हूँ और समय आने पर उसे पा लेता हूँ या नहीं पाता। तो मैं यह समझता हूँ, कि यह एक निरन्तरता या लिंक है, जिसकी वजह से मैं कुछ पाता हूँ या खोता हूँ। **जबकि उसका प्रकाट्य व आनन्दपूर्वक भोग अथवा उसका खोना, सब उस समय की मेरी मानसिक स्थिति की वजह से होगा अन्यथा नहीं होगा।** यदि वह मानसिक स्थिति का प्रकाट्य नहीं है और बाहरी प्रक्रियाओं द्वारा मैंने कुछ पा लिया है, तो उसकी प्राप्ति मुझे अहंपूरित व तनावित रखेगी। मैं उसे कभी भी भोग नहीं पाऊँगा। बाहरी प्रक्रियाओं द्वारा मैंने यदि कुछ खो दिया, तो मैं वैसे अवसाद में रहूँगा, कि मैं असफल हूँ।

हम कभी भी अपने जीवन्त वर्तमान में नहीं रह पाते। भूत और भविष्य के विचारों से हमारा वर्तमान हमेशा लदा रहता है। मैंने व्यर्थ की धारणाएँ बना रखीं हैं, कि ऐसा मैंने शुरू किया था। एक वर्ष का कोर्स और है, फिर मुझे यह डिग्री मिल जाएगी या अमुक धन मिल जाएगा। पहली बात तो यह है, कि सबको जो चाहते हैं, वह मिलता नहीं है। जितना इच्छित था, उतना नहीं मिलता, उससे कहीं अधिक मिल सकता है या कम भी मिल सकता है और नहीं भी मिल सकता। जितने समय में हमने सोचा था, उससे कहीं अधिक समय लग सकता है। उससे बहुत कम समय में भी हो सकता है। मान लो, पाँच वर्ष का कोई कोर्स है। पाँच वर्ष बाद अमुक डिग्री मिलनी है। कई बच्चे बीच में ही फेल हो जाते हैं, कई कोर्स के दौरान देह छोड़ देते हैं,

कोई बीच में इरादा बदल देते हैं। कइयों को उस कोर्स से निकाल दिया जाता है। कोई देह रूप से अक्षम हो जाता है। कोई बार-बार अनुत्तीर्ण होने से निर्धारित समय में नहीं पा सकता। बहुत कुछ होता है, जो हमारे हाथ में नहीं है। अतः हमें अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति यदि होती है, तो वह हमारी किसी भी प्रक्रिया का परिणाम नहीं होता। **हमें भ्रम होता है, कि मेरे तथाकथित कर्म करने से मुझे जो प्राप्ति होती है, वह मेरे कर्म का फल है। जबकि कर्म का फल अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति या खोना नहीं है, बल्कि उस प्राप्ति अथवा खोने के बाद जो मानसिक वृत्ति बनती है, वह उसका फल है।**

जब हम किसी कर्म का कारण बनेंगे, तो हम पहले ही उस भविष्य को धारण करके चलते हैं, कि मैं परिश्रम करूँगा तो इतने वर्ष में यह बन जाऊँगा। जब नहीं बन पाता तो ऐसा अनुभव होता है, मानों मेरा सब कुछ खो गया हो, कि मैं अपनी डिग्री खो बैठा। हम उसे खोना इसलिए कहते हैं, क्योंकि मैं उसे **प्राप्त हुआ** मानकर चला था। इसलिए हमारा वर्तमान कभी स्वच्छ व जीवन्त वर्तमान नहीं रह पाता। **इसके लिए भूत व भविष्य की यह श्रृंखला तोड़नी होगी। सतत्, निरन्तर चल रही प्रक्रिया में से स्वयं को निकाल कर जीवन्त वर्तमान में स्थित करना होगा।** जो वर्तमान में मेरे द्वारा हो रहा है, वहाँ मैं वर्तमान में तो रहता ही नहीं। हमेशा मेरी धारणा यही रहती है, कि इतना मैं कर चुका हूँ और इतना होना शेष है। तो भूत और भविष्य, वर्तमान को आच्छादित किए रहते हैं, विशुद्ध वर्तमान में मैं कभी भी नहीं रहता।

दैहिक सुख लेने के लिए भी लोग नशा इसलिए करते हैं, कि कुछ देर के लिए भूत और भविष्य भूल जाएँ। वर्तमान में स्थित हो जाएँ। **जो क्षणिक दैहिक सुख भी उन्हें मिलता है, उसमें भूत और भविष्य भूल जाता है।** भूत और भविष्य की श्रृंखला टूट जाए और जीवन्त विशुद्ध वर्तमान जाग्रत हो जाए, यही सुख अथवा दुःख है। विशुद्ध वर्तमान में जब आपकी स्थिति हो जाती है, तो क्या आप कर्म करना बन्द कर देते हैं? ऐसा नहीं है, फिर कर्म आप करते नहीं हैं, कर्म स्वतः आपके द्वारा होता है। उसका आप वर्तमान में

आनन्द लेते हैं। जो आनन्द उस वस्तु की प्राप्ति के बाद मिलना है, वह उस कर्म के दौरान ही मिल जाता है। अतः प्राप्ति होना या न होना महत्त्वपूर्ण रह ही नहीं जाते। खेल में, खेल का आनन्द आना चाहिए, हार-जीत महत्त्वपूर्ण नहीं है। **हमें किसी प्रक्रिया में आनन्द इसलिए नहीं आता, क्योंकि वर्तमान लुप्त हो जाता है। भविष्य में होने वाली हानि या लाभ को हम ढो कर चलते हैं। अतीत में की गई क्रियाओं को भी उससे जोड़े रहते हैं।**

क्षण भर के लिए ही सही, विशुद्ध वर्तमान का जाग्रत होना अति आवश्यक है। पता नहीं प्रकृति में जो निरन्तर प्रक्रिया चल रही है, उसमें आप जो कई वर्षों बाद पाने की आकांक्षा कर रहे हैं, वह तुरन्त अभी वर्तमान में प्रकट हो जाए! आप कहेंगे कि पाँच वर्ष का यदि कोर्स है, वह एक या दो वर्षों में कैसे प्रकट हो जाएगा ! हमने ऐसे विद्यार्थी देखें हैं, जिनका प्रधानाध्यापक तक सम्मान करते हैं। उन पर गर्व करते हैं। वे जन्मजात शिक्षक ही होते हैं, वे शिक्षा के दौरान आनन्द लेते हैं। **कोई भी प्रक्रिया उनके लिए किसी प्राप्ति के लिए नहीं होती, बल्कि आनन्द में खेलने के लिए होती है।** वह कुछ बनने के लिए नहीं होती, वह मात्र उनकी क्रीड़ा होती है। अब भगवान श्रीकृष्ण क्या गुरु संदीपन के आश्रम में विद्याध्ययन करके विद्वान बने? वे तो स्वयं में पूर्ण थे। गुरु के आश्रम में शिक्षा-प्राप्ति हेतु रहना मात्र क्रीड़ा ही थी। उनका समस्त जीवन ही लीला मात्र थी।

जब हम यह सोचेंगे, कि **मैंने यह सब करके पाया है, तो वर्तमान में उस प्राप्ति के साथ भूत जुड़ा रहेगा, कि यह किया, तब यह पाया। करने के दौरान मैंने कष्ट सहे, वे कष्ट इसलिए थे, क्योंकि वह तमाम प्रक्रिया अहं में, ईश्वर-विमुखता से हुई। वह प्राप्ति भी हमें ईश्वर-विमुख करेगी और उस विमुखता में उस प्राप्ति का आनन्द तो क्या आना है, सुख भी नहीं ले पाएँगे।** यदि उस प्रक्रिया के दौरान हमने ईश्वर को समर्पित करके, उसका नाम लेते हुए कार्य किया है, तो ही हम उस प्राप्ति का सुख ले पाएँगे। यदि उस प्रक्रिया को ही ईश्वरीय मान लिया, कि "प्रभु ! आप कर रहे हैं, आप करवा रहे हैं, मैं स्वयं में कुछ भी करने योग्य नहीं हूँ। यह देह,

कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन सब आपका है और मैं भी आपका हूँ।'' तो फिर **प्राप्ति** या **खोने** में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि तब हम प्रकृति में होती सतत् प्रक्रिया का ही आनन्द लेते हैं। हमारे द्वारा भी स्वतः कुछ कृत्य हो जाते हैं, हम स्वयं में करते कुछ नहीं हैं और आनन्द पहले ही प्राप्य है। यह भी हो सकता है, कि करेगा कोई और, प्राप्ति हमें होगी। **क्या सभी जो धनवान हैं, वे स्वयं धन कमा कर धनवान हुए हैं? क्या जिनके पास बहुत धन है, वे वास्तव में धनवान भी हैं?** क्या बड़ा पद पाने पर कोई बहुत सशक्त हो जाता है? अधिकतर निर्धन हमें उन तथाकथित धनवानों में ही मिलेंगे। अधिकतर उच्च पदासीन व्यक्ति अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से ही भयभीत रहते हैं। अपने पद का आनन्दपूर्वक भोग नहीं कर सकते।

जब विशुद्ध वर्तमान जाग्रत हो जाए तो भूत और भविष्य की यह तथाकथित श्रंखला टूट जाती है। उसके बाद हम जो करेंगे, वह प्रभु कराएँगे। **परीक्षा, परीक्षक, परीक्षार्थी और परीक्षाफल; शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षाफल प्रभु बनेंगे।** आपकी किसी प्रक्रिया के फलस्वरूप न तो आपको यह देह और जीवन मिला है और न ही किसी प्रक्रिया से यह देह जाएगी। तथाकथित जन्म स्वतः हुआ और मृत्यु भी स्वतः होगी, जो आपने देखनी नहीं। सारी प्रक्रियाएँ विशुद्ध जीवात्मा (**'मैं'**) के लिए ईश्वरीय प्रकृति में स्वतः चल रही हैं। समय-समय पर स्वतः जीवन्त वर्तमान में खोने अथवा पाने के विभिन्न रंगों-रूपों में वे प्रकट होती रहती हैं। **ईश्वर स्वयं सब कुछ करवा रहा है, आपको मात्र उसकी शरण में बैठना है। आपसे जो कुछ करवाना होगा, वह करवा लेगा और वह आपके लिए हुआ-हुआ होगा।** जैसे अब रात हो गई है, सुबह सूर्य उदय होगा, उसकी प्रक्रिया चल रही है। इसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन के लिए भी प्रकृति में प्रक्रिया चल रही है, किसी प्रक्रिया में यदि आपकी आवश्यकता होगी, तो ईश्वर आपको प्रेरित करेगा। वह आपका हाथ उस कार्य के लिए उचित समय पर स्वयं बढ़ाएगा। यह जो प्रक्रिया चल रही है, वह पंच-महाभूतों की माया में चल रही है। जो पंच-प्राण-पुंज निराकार पारब्रह्म परमेश्वर की छाया मात्र है और समस्त

प्रकाट्य भी माया में है। **हम उस मायिक प्रकाट्य में भ्रमवश यह मान लेते हैं, कि मैं कर रहा हूँ। इसीलिए कर्मबन्धन में फँस जाते हैं। सब कुछ ईश्वर करवा रहा है।** देह को हमारे लिए उसने ही बनाया और वही इसका सम्पूर्ण प्रबन्धन व नियन्त्रण करता है। निश्चित समय पर इसे जगत से ले जाता है।

आपको क्या करना है, ईश्वर कुछ करवाए तो कर लीजिए, नहीं तो उसकी शरण में बैठिए। इस रहस्य को आत्मसात् करने के लिए आपको भूत और भविष्य, जन्म और मृत्यु के काल्पनिक किनारों से निकल कर जीवन्त वर्तमान में कुछ क्षणों के लिए स्थित होना होगा। आपके सम्मुख वर्तमान में आपकी अभीष्ट वस्तु प्रकट हो जाएगी। आपकी आकांक्षाओं से कहीं अधिक मात्रा में प्रकट हो सकती है। आपके द्वारा निर्धारित समय से पहले ही प्रकट हो सकती है। आप जिसे खोजने के लिए दुनिया भर में घूम रहे हैं, वह आपके घर में ही प्रकट हो सकती है। आपको तथाकथित करने, पाने, खोने सबमें आनन्द ही आनन्द रहेगा, क्योंकि आप स्वयं सच्चिदानंद की गोद में बैठे हैं।

हम प्रक्रिया में अपना सारा जीवन व्यर्थ कर देते हैं, कि मैं बहुत व्यस्त हूँ। ईश्वर का नाम लेने का मेरे पास समय नहीं है। फिर हमने कुछ करके जो भी प्राप्त किया, वह भी होना ही था। **दैवीय अधिनियम के अन्तर्गत हमसे, हमारी उन प्राप्तियों के, जो हमने अहंवश तथाकथित कर्म करके कीं, भोग का हक छीन लिया जाता है।** ईश्वर कृत्य करवाता है। हम यदि समझते हैं, कि मैं कर रहा हूँ तो वहीं से धाराएँ लग जाती हैं। कभी किसी जीवन्त वर्तमान में 'गा' और 'था' की श्रंखला टूट जाए तो हम पल-पल प्रकृति में चलती प्रक्रिया और प्रकाट्य का आनन्द लेते हैं। जो आज हम हैं, अपने कृत्यों की वजह से नहीं हैं। अच्छा-बुरा या पाप-पुण्य भी तभी हैं, जब हम स्वयं को कर्ता मानते हैं। जो वास्तविक जीवन है, वह हम जीते ही नहीं। **जब हम जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों से निकल कर यथार्थ भूमि पर उतरेंगे, अपनी विशुद्ध 'मैं' जीवात्मा की अनुभूति कर लेंगे, तो**

प्रकृति में चल रही काल्पनिक प्रक्रिया व प्रकाट्य दोनों का आनन्द लेंगे। लीला वही है, जो वास्तव में कुछ नहीं होती। जिसमें हम सुखी-दुःखी होते हैं, वस्तुतः वह शिव-शक्ति की क्रीड़ा है।

मुझे मानव-देह मिली, उसके लिए मैंने क्या किया? देह के भीतर निरन्तर क्या-क्या प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, क्या वे सब मैं कर रहा हूँ? मेरे गुर्दों के भीतर दस-दस लाख फिल्टर लगे हैं, मेरा सारा रक्त फिल्टर होता रहता है, हृदय-गति निरन्तर चलती रहती है। लिवर अपना काम करता रहता है। मस्तिष्क का कम्प्यूटर सतत् कार्यरत् रहता है। यह सब क्या मेरी बुद्धि से हो रहा है? वह सोने के लिए मेरी बुद्धि को शान्त करता है। सुषुप्ति में एक स्वप्न-सृष्टि बनती है, जिससे जाग्रत होकर मैं स्पष्ट देखता हूँ, कि मैं कहीं आता-जाता नहीं, लेकिन उस स्वप्न-सृष्टि में न जाने कहाँ-कहाँ भ्रमण कर आता हूँ। स्वप्न का पाना-खोना सब मिथ्या होता है। इसकी अनुभूति के लिए हमें कल्पनातीत जीवन जीना होगा। जन्म तो हमने मान ही लिया है, तो आगे होने वाली मृत्यु से भी निपट लीजिए। जीते जी धारण करिए, कि **''मैं मर गया हूँ''** तो उसके बाद मृत्योपरान्त जो जीवन होगा, वह वास्तविक यथार्थ जीवन होगा। **जन्म-मृत्यु की देह की अवधारणा न रहने पर ही हमारी दिव्य-देह जाग्रत होगी।** यह देह इसलिए मिली है, कि हम **जन्म और मृत्यु के दोनों काल्पनिक किनारों से देह द्वारा ही बाहर आ जाएँ। बाहर आने के बाद जो देह शेष रहती है, उसमें उस सत्यानुभूति का आनन्द लीजिए।** अन्यथा आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं उठता ! जन्म और मृत्यु से बँधी देह में आनन्द कैसे होगा! आनन्द देहातीत है, वह **कारण-देह** का है।

हम उन कृत्यों के तहत पाना चाहते हैं, जिनकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। उस प्राप्ति में जिनकी कोई भूमिका ही नहीं है। **होगा और हुआ था** में **'गा' 'था'** की इस काल्पनिक कड़ी को तोड़ने के लिए हमें मात्र जीवन्त वर्तमान में कुछ क्षणों के लिए जीना होगा। 95 प्रतिशत कार्य, हमारे कुछ न करने से होंगे। क्या हमारा हृदय, गुर्दे आदि हमारे इशारे पर कार्य कर रहे हैं

? कोई शक्ति है, जो सब कुछ कर रही है। हमें यह ज्ञात तक नहीं है, कि देह के भीतर क्या-क्या हो रहा है। हमने अपने जगत का ठेका क्यों ले लिया कि मैं बेटे को इन्जीनियर बनाऊँगा या डॉक्टर बनाऊँगा। किस वक्त यह देह की मशीन चलाने वाला इसे बन्द कर दे, हमें ज्ञात नहीं है। फिर किसी भी कार्य का ठेका हम कैसे ले सकते हैं? हमारी देह रूपी मशीन का मालिक तो कोई और है, उसका चलना, रुकना हमारे हाथ में नहीं है। हम कहते हैं, कि मैंने उस समय ऐसा सोचा। उस समय ऐसा किसने सुचवाया। वैसा हमने पहले क्यों नहीं सोचा? सोचना है तो यह सोचिए कि कौन हमें सोचने के लिए प्रेरित करता है और क्या-क्या सुचवाता है। मैंने **'सोच'** शीर्षक प्रवचन में इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है।

हम यह सोचते हैं, कि हमारे करने से कुछ प्राप्त होगा, यही सबसे बड़ा भ्रम है। हमारा सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड भीतरी मानस का बाह्य प्रकाट्य है, जिसके कारण हम नहीं हैं। एक क्रिया के लिए देह व सूक्ष्म-जगत में कितनी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती हैं, हम नहीं जानते। आनन्द में जितना ईश्वर करवाए, वह करिए, बाकी आनन्द लीजिए। **कोई भी कुछ करके नहीं पाता है। यह माया में सब कुछ, प्रक्रिया और प्रकाट्य चलता रहता है। आप लालायित मत होइए, ईश्वर ने यदि हमारी देह का इस्तेमाल करना होगा, वह उचित समय पर करेगा।** हमारा कर्म मात्र इतना है, कि जो कुछ भी वह करवा दे, उसकी वाह-वाह करें। ''हे प्रभु ! मैं तो आपकी स्तुति व प्रशंसा भी नहीं कर सकता। मैं आपकी कृपा से यह जान गया हूँ कि जब भी आप मुझसे प्रसन्न होते हो, अहेतु की कृपावश आप स्वयं प्रसन्न होते हो और मुझे आनन्दित करते हो। तो प्रभु, त्राहिमाम् ! मुझ पर कृपा करो।'' सब कुछ जब हम उसके नाम से करते हैं, तो हमारी मानसिक स्थिति परिपक्व होती रहती है। समय आने पर वस्तुएँ हमारे लिए प्रकट हो जाती हैं।

आप अपने बीते हुए 45-50 वर्ष के जीवन के अतीत को याद करिए। इतने वर्षों की बातें आप 10 मिनिट में दोहरा लेंगे, क्योंकि प्रकाट्य ही आपकी स्मृति में अंकित होता है। **समस्त प्रक्रियाएँ और तथाकथित**

आपके कर्म की यादें धुँधली पड़ जाती हैं अथवा अधिकतर विलुप्त ही हो जाती हैं। ईश्वरीय प्रकृति में प्रकाट्य ही है। कोई निरन्तरता और प्रक्रिया नहीं है। हमने देहाध्यासवश यह मान लिया कि मेरे करने से यह प्राप्ति मुझे हुई है। आज से 10 वर्ष पूर्व **'मैं'** यह था, अब **'मैं'** लखपति हो गया हूँ। कल का दिन पता नहीं मुझे देखना भी है या नहीं। कल का राजा, आज भिखारी हो सकता है। यदि अपने कुछ करने से तू लखपति हुआ है, तो कल यदि यह सब दौलत चली जाए, तो यह तेरे किस कर्म के कारण होगा। अगर पाया तूने अपनी किसी कर्मठता द्वारा है, तो जब कुछ छिन जाता है, तो यह तुमने किस प्रक्रिया द्वारा गवाँया है। तू इसे गँवाने का स्वयं उत्तरदायी है, क्योंकि तूने पाए हुए का अभिमान किया। **युगों-युगान्तरों से हम देह के साथ इतने तद्‌रूप हो गए हैं, कि हर प्रकाट्य मुझे प्रक्रिया का फल नज़र आता है। मैंने किया, मैंने पाया। मैंने कुछ इसलिए गँवाया कि कभी न कभी खोटे कर्म किए होंगे। कर्मों को जीव तब भी नहीं छोड़ता।**

आज आप स्वस्थ हैं, यह आपके द्वारा किये गये किसी नियमित व्यायाम अथवा की गई अन्य प्रक्रिया के कारण नहीं है। आप स्वयं को किसी प्रक्रिया के साथ मत बाँधिए। आज मैं इतने बजे उठा, भ्रमण के लिए गया, व्यायाम किया, इसलिए मैं स्वस्थ हूँ। अरे ! सुबह जल्दी तुझे किसने उठाया और जो भी भ्रमण या व्यायाम किया, वह किसकी शक्ति से हुआ? यदि बुद्धि का इस्तेमाल करना है, तो पूरा करो। यह बुद्धि ही अपने हाथ खड़े करके दिव्यता की ओर संकेत कर देगी। ये जप-तप, यज्ञ-हवन, कीर्तन, भजन, नृत्य, संगीत आदि इसलिए हैं, कि हम प्रक्रियाओं को भूल जाएँ और अपने मानस को दिव्यता से जोड़े रखें। "आज के दिन, प्रभु ! बहुत कृपा की है, जो यह दिन मुझे दिया है। यह देह तेरी है, मैं भी तेरा हूँ। यह देह तेरे-मेरे बीच में न आए, मुझे तंग न करे, मुझे तेरे साथ जोड़े रखे।"

प्रक्रिया और प्रकाट्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जितना भी प्रकाट्य है, उसका अंकन, अकाल-काल में होता है। पूरे युग की रिकॉर्डिंग, हो सकता है, कुछ ही क्षणों में हो जाए। जैसे ही आपने स्वयं को प्रक्रिया से

सम्बद्ध किया, आपमें जब भी यह भाव आया कि यह मैंने किया था या करना है, तो साथ ही साथ भीतरी-जगत में रुग्ण वृत्तियाँ बनने की प्रक्रिया स्वतः प्रारम्भ हो जाती है। वे वृत्तियाँ ही कालान्तर में आपकी देह में रोग बनकर प्रकट होती रहती हैं। भीतरी-जगत में क्या हो रहा है, आपको पता नहीं चलता। जैसेकि हृदय, गुर्दे आदि अंग स्वतः कार्यरत रहते हैं, आपको किसी प्रक्रिया का आभास नहीं होता। इसी प्रकार रुग्ण वृत्तियों के बनने की प्रक्रिया का भी हमें ज्ञान नहीं होता। देह में रोग रूप में प्रकट होने पर हमें उन रोगों का आभास होता है। तो हम रुग्ण वृत्तियों के बनने की प्रक्रिया की जाँच कैसे करें? क्योंकि Prevention is Better Than Cure. भीतरी प्रक्रिया का उन्मूलन होना आवश्यक है। इसके लिए स्वयं कर्ता बनने और स्वयं को किसी भी कार्य का कारण बनने से रोकना होगा। यह ही रुग्ण वृत्ति है। बिना करने से जो मिलना है, उसके लिए हम कर्म क्यों करते हैं? इसका अर्थ यह नहीं है, कि हम कार्य करना बन्द कर दें, बल्कि हमारे कर्ताभाव समाप्त हो जाए। कोई भी कार्य व्यक्तिगत तो है नहीं। हमारे साथ समस्त सूक्ष्म-जगत सम्बद्ध होता है। उसके अनुकूलन के बिना हम कोई कार्य नहीं कर सकते। **तो एकमात्र कर्ता ईश्वर है, उसकी इस प्रकृति में समस्त प्रक्रिया व प्रकाट्य चल रहा है। इससे परे होकर दर्शक बनकर इसका आनन्द लीजिए।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(5, 7 एवं 9 सितम्बर, 2005)

सुख-दुःख और आनन्द

हम सब सुख व सुखी जीवन चाहते हैं। सुख की परिभाषा क्या है? जो हम चाहते हैं, जब तक उसकी परिभाषा का ही ज्ञान नहीं होगा, तब तक हम वह लक्ष्य साध ही नहीं सकते। हम कोई वस्तु चाहते हैं, तो उस वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। किसी व्यक्ति को मिलना चाहते हैं, तो उसकी पहचान होनी ज़रूरी है अथवा उसकी पहचान कराने वाला कोई होना आवश्यक है। यदि हमें सुख की परिभाषा का ही ज्ञान नहीं होगा, तो हम सुख कैसे पाएँगे? यदि हमें मिल भी जाए, तो भी हम उसे पहचान ही नहीं पाएँगे। कौन से हैं वे सुख के क्षण, जिनकी हमें चाह है? टीवी, कार, बंगला, फ्रिज आदि वस्तुएँ मात्र सुख-साधन हैं, जो हमें सुख देते हैं। जिसकी हमें चाह है, वह सुख है क्या? और वे अनचाहे क्षण कौन से हैं, जिन्हें हम दुःख कहते हैं?

सुख-दुःख दोनों मानसिक स्थितियाँ हैं। सुख या दुःख मात्र एक भाव है। जैसे सुख एक भाव है, वैसे ही दुःख भी एक भाव है। दुःख अभाव नहीं है, वह भी भाव है। **वस्तुतः सुख-दुःख वह मानसिक भाव है, जो काल के उस क्षण में प्रकट होता है, जिसमें हमें अपना भूत और भविष्य भूल जाता है और हमारा विशुद्ध वर्तमान जाग्रत होता है।** जैसेकि कोई विशेष दृश्य देखकर हम तन्मय हो उठते हैं और कह उठते हैं, कि वाह! मैं तो सब कुछ भूल गया। अतः जहाँ भूत और भविष्य याद रहेगा, वहाँ सुख प्रकट हो नहीं सकता। लोग नशा इसलिए करते हैं, ताकि भौतिक रूप से, अस्थाई तौर पर, कुछ देर के लिए भूत और भविष्य भूल जाएँ। उस विशुद्ध वर्तमान में उन्हें **सुख सा** अनुभव होता है। **वस्तुतः नशा शराब आदि नशीले पदार्थों में नहीं**

है, बल्कि नशा उस क्षण का है, जिसमें हम भूत और भविष्य भूल जाते हैं। यदि बिना शराब के ही वह क्षण जाग्रत हो जाए, तो शराब पीने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। कोई व्यक्ति शराब का आदी नहीं होता, बल्कि उसे पीकर वह उन क्षणों में जीना चाहता है, जिनमें वह भूत और भविष्य भूल जाए। **कोई भी ऐसी वस्तु जो आपको उन क्षणों में ले जाए, आपको उसकी लत लग जाती है। वस्तुतः लत उस वस्तु की नहीं अपितु उन क्षणों की है।** लेकिन अज्ञानवश आप उस वस्तु को कारण मान लेते हैं, जिससे वे क्षण जाग्रत हुए, जिनमें आप अपना भूत और भविष्य भूल गए। काल की तीन विधाएँ हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान। **सुख व दुःख काल की उस विधा में प्रकट होता है, जिन क्षणों में आप भूत और भविष्य भूलकर विशुद्ध वर्तमान में जीते हैं। उन क्षणों व उस भाव के प्रकाट्य में जो कुछ सहायक होता है, उन्हें साधन कहते हैं। देह में जिनके माध्यम से ये भाव प्रकट होते हैं, उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं।**

हम इन विशुद्ध वर्तमान के क्षणों को इसलिए चाहते हैं, क्योंकि हम हमेशा भूत और भविष्य के बोझ से दबे रहते हैं। ऐसा हो**गा** या ऐसा हुआ **था,** इसी चिन्ता में हमारा वर्तमान आच्छादित रहता है। इस **'गाथा'** के कारण कोई भी वर्तमान ऐसा नहीं होता, जिसमें हम भूत और भविष्य को भूले हुए हों। हमेशा हम किसी न किसी Process या प्रक्रिया में व्यस्त रहते हैं। गाथा को कथा भी कहते हैं। हमारे जीवन की **'गा' 'था'** की प्रक्रिया हमें इतना आच्छादित किए हुए है, कि हमें कभी सुख का अनुभव ही नहीं होता। इसलिए जब कुछ क्षण काल की उस विधा के मिलते हैं, जिनमें **गा (भविष्य)** और **था (भूत)** की प्रक्रिया टूट जाती है, तो हम विशुद्ध वर्तमान के क्षणों में सुख का अनुभव करते हैं। वास्तव में जीवन में किसी प्राप्ति के लिए किसी भी प्रक्रिया का कोई महात्म्य नहीं है। **'प्रक्रिया और प्रकाट्य'** शीर्षक प्रचवन में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है।

कुछ घड़ियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें काल थम सा जाता है। इन क्षणों में भूत और भविष्य भूल जाता है। वह उस समय की मानसिक स्थिति का

प्रकाट्य होता है। वह प्रकाट्य सुख का होगा या दुःख का होगा। आप **गा, था** की प्रक्रिया में **जो चाहते हैं या जो नहीं चाहते,** उसका प्रकटीकरण हो जाता है। मैं तो ऐसा नहीं चाहता था, मैंने सोचा भी नहीं था, पर हो गया। मैं जैसा चाहता था, वैसा हो गया। तो इस प्रकार सुख अथवा दुःख के रूप में वह प्रकाट्य हुआ जिसमें आप भूत और भविष्य अवश्य ही भूल जाते हैं। अक्सर आपको वे क्षण याद रहते हैं, जिनमें जो आप चाहते थे, पाया अथवा वह अवांछित मिला जो आप नहीं चाहते थे। इन दोनों घड़ियों में वक्त थम सा जाता है। कुछ याद नहीं रहता। **कष्ट के समय में भी और सुख के समय में भी भूत और भविष्य सब विस्मृत हो जाता है। वे घड़ियाँ स्मृति में अंकित हो जाती हैं।**

हमें कुछ धन मिल गया या कोई प्रौपर्टी अथवा मनचाही पोस्ट मिल गई, तो हम उन क्षणों में भूत और भविष्य को कुछ देर के लिए भूल जाते हैं। जब भूत और भविष्य याद आ गया तो उस प्राप्ति का महात्म्य क्षीण हो जाता है। धन कमाने वाले बार-बार धन क्यों कमाना चाहते हैं। उन्हें चाहत धन की नहीं होती, बल्कि उन क्षणों की होती है, जिनमें और धन मिलता है। जिससे वे उस जीवन्त वर्तमान में कुछ क्षणों के लिए स्थिर हो जाते हैं। इसी प्रकार शराबी बार-बार शराब इसीलिए पीता है, कि वह सब कुछ भूल कर वर्तमान क्षणों में जी सके। ऐसे ही किसी अपने पुराने मित्र से हम मिलते हैं, तो कुछ क्षणों के लिए भूत और भविष्य भूलकर बहुत सुखी हो जाते हैं। थोड़ी ही देर बाद उस व्यक्ति के मिलने का महात्म्य समाप्त हो जाता है। **हमें वस्तुतः उन क्षणों की लत है, जिनमें हम अपने भूत और भविष्य को भूल जाएँ।**

हम किसी वस्तु की प्राप्ति की प्रक्रिया में हैं। मान लो वह वस्तु हमें मिल जाती है, तो हम खुश हो जाते हैं। जैसेकि किसी के घर में 9 महीने की प्रतीक्षा के बाद पुत्र का जन्म हुआ, बहुत बधाइयाँ मिलीं, उत्सव हुआ। सुख व खुशी मिली, लेकिन घर वाले कब तक खुशी मनाते व नाचते रहेंगे ! सब नाते-रिश्तेदार खा-पीकर, नाच-गाकर चले जाते हैं। रोज़-रोज़ आकर बार-बार खुशी थोड़ा ही मनाएँगे। वस्तुतः हम जीवन में उन क्षणों की तलाश

में ही समस्त जीवन निरर्थक एवं व्यर्थ कर देते हैं, जिनमें हम भूत-भविष्य भूल जाएँ। हम नहीं जानते कि **उन क्षणों का प्रकाट्य उस समय की मानसिक स्थिति थी, जो उस स्वरूप में प्रकट हुई। वह मानसिक स्थिति क्यों थी, यह आप नहीं जानते और न ही जान सकते हैं। वह मानसिक स्थिति पुनः बना लें, तो हमें वह सुख फिर मिल जाएगा। हमें उस प्रकाट्य से प्रसन्नता व खुशी नहीं मिली, बल्कि मानसिक प्रसन्नता व उल्लास से वह प्रकाट्य हुआ।** हम कीर्तन-भजन, यज्ञ-हवन, ध्यान-धारणा, नाम-जाप, जप-तप आदि इसलिए करते हैं, कि इन प्रकरणों से वह मानसिक स्थिति बन जाती है, जिससे उन क्षणों का प्रकाट्य हो, जहाँ भूत और भविष्य विस्मृत हो जाए। भाव से वस्तुएँ स्वतः प्रकट होती रहती हैं। उस मानसिक स्थिति व भाव की जागृति के लिए हमारा भूत और भविष्य को भूलना आवश्यक है। **सब प्रक्रियाएँ भूत और भविष्य के साथ कालबद्ध होती हैं। (मैं यह कर लूँगा और इतना मैंने कर लिया था) वर्तमान में इसी प्रकार गाथाएँ चलती रहती हैं। इसलिए प्रक्रिया में रहते हुए हम सुख का अनुभव कर ही नहीं सकते।**

सुख भी वे क्षण और भाव हैं, जिनमें भूत और भविष्य भूल जाएँ और दुःख भी वे क्षण हैं या भाव हैं, जिनमें भूत और भविष्य भूल जाएँ। कोई दुःखद घटना होने पर भी हमें भूत और भविष्य, सब कुछ भूल जाता है, कि हाय मुझे कुछ नहीं सूझा, मेरे हाथ पैर ठण्डे हो गए। कोई फोन नम्बर न याद आए, कि किसी को फोन भी कर दूँ, जो मेरी मदद कर सके। ऐसी ही हालत हमारी सुख में भी होती है। **सुख हमें वांछित और दुःख हमें अवांछित है, परन्तु हमें ज्ञान नहीं है, कि सुख और दुःख दोनों ही दुःख हैं।** जब सुख-साधन नहीं रहेंगे अथवा सुख देने वाली इन्द्रियों की क्षमता क्षीण हो जाएगी, तो लिए गए सुख के क्षणों की स्मृति, दुःख अवश्य बनेगी। स्मृति दोनों की रहती है। दुःख की घड़ियों को याद करके हम स्वयं दुःखी होते हैं, औरों को भी दुःखी करते हैं। अतः दुःख के क्षण महादुःख बन जाएँगे। अतः जो सुख है, वही दुःख है। दोनों में हम किसी वस्तु, प्राणी या

परिस्थिति को उत्तरदायी मान लेते हैं, कि मेरा वह प्रिय नहीं रहा, इसलिए मैं दुःख में हूँ। **सुख और दुःख दोनों ही अवांछनीय हैं, क्योंकि जीवन के किन्हीं क्षणों में सुख भी दुःख बनेगा और दुःख, महादुःख बनेगा।** क्योंकि हम सुख-दुःख को उन वस्तुओं, प्राणियों, परिस्थितियों या खोने अथवा पाने से सम्बन्धित मान रहे हैं।

लोग सुख प्राप्त करने के लिए साधन जुटा रहे हैं और भाग-दौड़ में लगे हुए हैं। जो सुख का प्रकटीकरण होता है, वह उन साधनों से नहीं होता। वह मानसिक स्थिति का प्रकाट्य होता है, जो वस्तुओं, पदार्थों, प्राणियों व सम्बन्धियों के रूप में हुआ। कभी-कभी कोई अनचाहा सम्बन्धी या मित्र आ जाता है, जिससे हमारा मूड खराब हो जाता है। वह भी मानसिक स्थिति का प्रकाट्य था। **उसके आने से आपका मूड खराब नहीं हुआ, बल्कि आपकी विक्षिप्त मानसिक स्थिति की वजह से वह प्रकट हुआ। आपके विभिन्न मानसिक भाव ही विभिन्न स्थितियों में प्रकट होते हैं।** सुख और दुःख में वस्तुएँ और प्रकाट्य महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, महत्त्वपूर्ण है आपकी मानसिक स्थिति, जिसे आप पूर्णतः उपेक्षित कर, भूले रहते हैं। एक व्यक्ति कोई वस्तु पाकर सुख में सराबोर हो जाता है, जबकि दूसरे व्यक्ति के लिए उसका महात्म्य ही नहीं होता। वह सुख या दुःख की घड़ी आई, किसी वस्तु के पाने या खोने से, लेकिन उस सुख-दुःख का उस वस्तु के पाने या खोने से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। **वस्तुतः इसका सम्बन्ध उस काल विशेष में आपकी मानसिक स्थिति से था। सुख वही है, जिसे हम सुख मानें और दुःख वही है, जिसे हम दुःख मानें। ये मान्यताएँ हमारे अपने मन की हैं।** यह भौतिक लाभ, हानि, मिलन या वियोग नहीं है बल्कि यह हमारी मानसिक स्थिति है, जिसके कारण उन क्षणों में हमने अपना भूत और भविष्य भुला दिया। लेकिन भ्रमवश हम उन वस्तुओं व प्राप्तियों को अपने सुख-दुःख का जिम्मेवार मान लेते हैं। हम उस परिस्थिति को कारण बना देते हैं, जबकि वह परिस्थिति हमारी मानसिक स्थिति के कारण प्रकट हुई।

सुख-दुःख **दोनों ही भाव** हैं, लेकिन आनन्द **अभाव** है। **आनन्द वह**

मानसिक स्थिति है जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान, काल की तीनों विधाएँ लुप्त हो जाती हैं। क्योंकि आनन्द, काल की किसी विधा से बँधा नहीं है। आनन्द में अकाल-काल अथवा कालातीत-काल का प्रकाट्य होता है। सुख-दुःख दोनों दैहिक हैं। इसलिए काल से बँधे हैं, भाव से बँधे हैं। उनमें भूत-भविष्य नहीं होगा, लेकिन वर्तमान होगा। **आनन्द देहातीत है। इसलिए यह अभावमय है और अकाल-काल में है।** काल की किसी भी विधा में नहीं है। आनन्द का किसी प्रकाट्य या वस्तु, पदार्थ व व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। **आनन्द वह मानसिक स्थिति है जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों लुप्त हो जाते हैं।**

अब, जब सुख में भूत और भविष्य भूला तो स्मृति उसे याद कर लेती है। **स्मृति का सम्बन्ध आपके उस मानसिक भाव से है, जिसमें आप भूत और भविष्य की विस्मृति में हैं।** स्मृति उन वस्तुओं के कारण नहीं होती, जिनके कारण आपको सुख-दुःख मिला। आज यह भ्रम निवारण होना चाहिए। जिन घटनाओं में आप भूत और भविष्य को विस्मृत करते हैं, उन्हें स्मृति याद कर लेती है। स्मृति में आप तभी जाओगे जब भूत और भविष्य रूपी **'गा' 'था'** भूलोगे। अरे ! आपकी स्मृति आपकी किसी प्रक्रिया को याद नहीं रखती। इसका जीवन्त, प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि आप अपने बीते हुए 45 – 50 वर्षों की घटनाएँ 4 – 5 क्षणों में दोहरा लेते हैं। स्मृति केवल उन क्षणों को याद करती है, जिनमें उन मानसिक भावों में आप थे, जहाँ भूत और भविष्य भूल गए थे। जिनका प्रकाट्य सुख या दुःख के रूप में हुआ। शेष सब समय अपनी नींद में या किसी न किसी **गाथा** की प्रक्रिया में लगे हुए थे। आपकी यह स्मृति, आई. क्यू. वाली बुद्धि केवल उन क्षणों को याद रखती है, जहाँ आप **'गा'** (भविष्य) **'था'** (भूत) भूलते हैं। तो क्या हम कुछ न करें? जब मैं कुछ करता हूँ तो उस प्रक्रिया का यह परिणाम होता है, **लेकिन जब यह भाव आत्मसात् हो जाता है, कि सब कुछ ईश्वर कर रहा है, वही करवा रहा है, तो वह तथाकथित प्रक्रिया ही आपके सुख का प्रकाट्य कर देगी।** उस Process में भी हर समय आप भूत और भविष्य को भूले हुए

पूर्णतः विशुद्ध वर्तमान में रहेंगे। आपका मन सर्वदा ईश्वर से जुड़ा होने के कारण आनन्दमय रहेगा।

भूत और भविष्य की विस्मृति ही स्मृति है। जिस बात में आप भूत और भविष्य को नहीं भूलेंगे, उसे आपकी स्मृति नहीं पकड़ सकती। जब आप वर्तमान को भी भूल जाएँगे तो वहाँ आपकी स्मृति ही लुप्त हो जाएगी। **वह स्मृति और सुख-दुःख भौतिक व दैहिक हैं, भावमय हैं, काल में हैं।** अनुभूति और आनन्द दोनों देहातीत व अभावमय हैं तथा अकाल हैं। वहाँ किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। उसमें आप काल से परे अकाल स्थिति में चले जाते हैं। जो साधन आपको उस अकाल-काल में अथवा देहातीत अभावमय आनन्द में ले जाए, उसके लिए फिर आप दीवाने हो जाते हैं। अपना सब कुछ दाँव पर लगाने के लिए तत्पर हो जाते हैं और सारी दुनिया को ठुकराने के लिए तैयार हो जाते हैंः—

''क्या-क्या बताऊँ मैं तेरे मिलने से क्या मिला,
मुद्दत मिली, मुराद मिली, मुद्दआ मिला,
सब कुछ मुझे मिला जो तेरा नक्शे-पा मिला''

कुछ भस्मित क्षण, थोड़ी सी अपने स्वरूप की झलक, जो हमको भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों से परे ले जाए, अगर कोई ऐसी चीज़ हाथ लग जाए, तो हम जीवन पर जीवन दाँव पर लगाते जाते हैं। जहाँ कुछ नहीं है, पर आनन्द ही आनन्द है। जहाँ न तो काल है, न कोई भाव है, न सुख है, न दुःख है। **हम भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों से परे अभावमय आनन्द की, अकाल स्थिति में चले जाते हैं।** तो हम स्मृतियों को अनुभूतियों में रूपान्तरित कैसे करें? क्योंकि स्मृतियाँ अन्ततः दुःखद ही बनती हैं, चाहे वे सुख की हों या दुःख की। क्योंकि हमने दोनों को उन वस्तुओं, प्राणियों, परिस्थितियों और खोने या पाने से सम्बन्धित माना है। वह समय याद करके हम स्वयं भी दुःखी होते हैं और अपने आस-पास के लोगों को भी दुःखी करते हैं। सुख की स्मृतियाँ, दुःख इसलिए देंगी, कि वह सुख अब हम सदा ले नहीं सकते और दुःख तो दुःख है ही।

हमारा यह आध्यात्मिक विज्ञान इसलिए महत्त्वपूर्ण है, कि इसकी अनुभूति होने के बाद, इसे अपने जीवन में प्रयोग करके हम अपना जीवन अत्यधिक आनन्दमय और गुणात्मक बना सकते हैं। यदि हम स्मृतियों को अनुभूतियों में रूपान्तरित कर दें, तो हमारा समस्त जीवन तुरन्त आनन्दमय हो सकता है। यह हो कैसे?

आप विचार करिए सुख और दुःख दोनों ही मानसिक स्थितियाँ थीं, जिनमें हम अपना भूत और भविष्य भूल गये थे। स्मृति ने उन क्षणों को पकड़ा हुआ है और हम कारण उन वस्तुओं, प्राणियों, परिस्थितियों, उपलब्धियों व हानियों को मान रहे हैं। **विवेक बुद्धि से सोचिए कि जिस वस्तु के प्रकाट्य से कभी हम बहुत सुखी हुए थे, आज उसी वस्तु का प्रकाट्य हमें सुखी क्यों नहीं कर रहा है? क्योंकि हमारी मानसिक स्थिति व भाव वैसा नहीं है, जिसमें उस क्षण में विचर सकें, जहाँ भूत और भविष्य भूल जाएँ।** किसी व्यक्ति को मिलकर कभी हम बहुत सुखी हुए थे, आज उसकी शक्ल भी देखना नहीं चाहते। ऐसा क्यों है? क्योंकि सुख का कारण वह व्यक्ति या पदार्थ था ही नहीं, बल्कि हमारा अपना ही मानसिक भाव था। आज किसी ने हमें कोई संगीत सुनाया, बहुत सुख मिला। अगले दिन फिर वह आया तो हमने कहा, कि यह शोर बन्द करो। जब उसके संगीत से हम सुखी हुए थे वह एक मानसिक स्थिति थी। **किसी मूड में हम कुछ खो कर भी सुखी होते हैं और किसी मूड में हम कुछ पाकर भी दुःखी हो जाते हैं।**

यह सब मानसिक स्थितियाँ हैं और वे मानसिक स्थितियाँ जो आपके भूत और भविष्य को भुला दें, वे या सुख हैं या वे दुःख हैं। जहाँ यह विस्मृति होती है, वहाँ स्मृति जाग्रत हो जाती है और हमेशा दुःखी करती है। **स्मृति, भूत और भविष्य की विस्मृति की परिपूरक विधा है। आनन्दानुभूति में काल की तीनों विधाएँ (भूत, भविष्य और वर्तमान) लुप्त हो जाती हैं। सुख, दुःख की स्मृति Long lasting हो सकती है, लेकिन आनन्द की अनुभूति Ever lasting होती है।** यदि किसी वस्तु की वजह से सुख मिला और वह आपको आनन्द में ले गया, तो वस्तु भूल जाएगी। सुख वस्तु से लेते

हैं, किसी सुख-साधन को आप निमित्त बनाते हैं। लेकिन यदि उसी सुख से आप आनन्द में चले गए तो जीवन-काल में जब भी उस सुख-साधन से लिए हुए सुख की स्मृति आएगी तो आपको तुरन्त आनन्द की अनुभूति हो जाएगी और वह वस्तु अपना महात्म्य खो देगी। कालान्तर में **सुख की स्मृति हमें दुःख इसलिए देती है, क्योंकि हम वह वस्तु पुनः चाहते हैं। अनुभूति के आनन्द में वह वस्तु हमको अनुभूति में रूपान्तरित करने में मात्र एक निमित्त बनती है।** अनुभूति में आते ही उस वस्तु की स्मृति लुप्त हो जाएगी, इसलिए दुःख होगा ही नहीं। अर्थात् उसकी स्मृति ही अनुभूति बन कर हमारे लिए आनन्द का द्वार खोल देती है। सुख, दुःख व स्मृति भौतिक है, अनुभूति व आनन्द देहातीत है।

जीवन के किसी भी काल में वह सुखद या दुःखद घटना जब याद आएगी, (क्योंकि आनन्द का सम्बन्ध दोनों से है) उसे ईश्वरीय मानसिक प्रकटीकरण का रूप देकर आप तुरन्त अनुभूति में रूपान्तरित कर देंगे। जैसे भगवान श्रीकृष्ण से कुन्ती बुआ ने दुःख ही दुःख का वरदान माँगा, क्योंकि उन दुःख की घड़ियों में उन्हें श्रीकृष्ण की याद आती थी। कष्ट में श्रीकृष्ण की स्मृति आनन्द की अनुभूति देती थी। यहाँ स्मृति आनन्द की अनुभूति का कारण बनती है। कष्ट देने वाली चीज़ भूल जाती है, लेकिन वह कष्ट ही आनन्द की अनुभूति करा देता है। अतः सुख, दुःख व आनन्द तीनों मानसिक स्थितियाँ ही हैं। क्यों न हम स्मृति को अनुभूति में रूपान्तरित कर दें ! इसके लिए हमें अपना वर्तमान भी हटाना पड़ेगा।

यह अध्यात्म स्वयं में पूर्णतः विज्ञान है। आप भूत और भविष्य को भूले तो वर्तमान में आ गए, जिसमें सुख मिला या दुःख मिला। यह एक मानसिक भाव था। आनन्द भाव नहीं है, यह अभाव है। ऐसी स्थिति जहाँ भूत और भविष्य के साथ वर्तमान भी लुप्त हो जाए। **इसके लिए आपको अकाल में विचरना होगा, वह आपकी समाधि अवस्था है।** उसका यदि क्षण मात्र को भी स्पर्श मिल जाए, तो वह आपकी निराकार, देहातीत, अकाल, आनन्दमय स्थिति है। **उस मानसिक स्थिति में जब आप काल की तीनों विधाओं से**

परे हो जाते हैं, यदि कोई संकल्प आ गया तो वह सद्-संकल्प होता है, जो रूप धारण करके उचित समय पर प्रकट हो जाएगा, क्योंकि उसमें संकल्प आपकी इच्छा से नहीं होगा, बल्कि आपके इष्ट की इच्छा से होगा। आपका समस्त जीवन वस्तुतः उस अकाल काल का ही प्रकाट्य है। आपके जीवन का हर क्षण उस सच्चिदानंद से जुड़ा रहे, यह तभी सम्भव है।

इसके लिए हमें अपनी देह व जीवन का अन्तिम, प्रत्यक्ष-दर्शित व निश्चित भविष्य पकड़ना पड़ेगा। जीवन **में** विभिन्न भविष्यों और प्राप्तियों की आकांक्षा में हम सुख-दुःख में भटक जाते हैं। हमें अपने वर्तमान में वह वस्तु आरोपित करनी पड़ेगी, जिससे पहले तो, भूत और भविष्य भूले और फिर वर्तमान भी लुप्त हो जाए। तो हमारी देह व जीवन का वह अन्तिम, निश्चित, परिलक्षित, प्रत्यक्ष-दर्शित भविष्य **'भस्मी'** ही ऐसा तत्त्वातीत तत्त्व है, जिसका कोई भविष्य नहीं है। यह भी विधान है, कि जिसका भविष्य नहीं होता, उसका अतीत भी नहीं होता। हमारी देह का अन्तिम भविष्य भस्मी है। क्योंकि भस्मी का कोई भविष्य नहीं है, इसलिए उसका अतीत हमारी देह नहीं है। **भस्मी किसी नाम-रूप की देह को नहीं पहचानती। वह पंच-महाभूतों की नामरूपात्मक देह के पंच-महाभूतों में विलीन हो जाने पर अवशेष तत्त्वातीत तत्त्व है।** जिस समय आपके सम्मुख कोई भविष्य नहीं होगा, उस समय अतीत भी नहीं होगा। यदि भविष्य होगा तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई भूत भी अवश्य होगा। **तो भस्मी की अवधारणा वह मानसिक स्थिति है, जिसका कोई भविष्य नहीं है।** इसलिए उसका कोई भूत भी नहीं है। जहाँ भूत और भविष्य नहीं होते वहाँ वर्तमान भी लुप्त हो जाता है और आप कालातीत स्थिति में पहुँच जाते हैं। तो भस्मी आपकी देह का ऐसा भौतिक स्तर है, जहाँ कोई भविष्य नहीं रहता। उस स्थिति को आप अपने वर्तमान में आरोपित कर दीजिए। उसकी वर्तमान में अवधारणा कर लीजिए।

हमने पिछले प्रवचनों में एक प्रार्थना बताई थी, कि **''हे प्रभु ! मुझे बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-धनहीन कर दो तथा**

अपनी बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति तथा अपने तन, मन, धन से मेरा जीवन चलाओ।'' इस प्रार्थना के दो चरण हैं। पहले चरण में आप स्वयं को बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-धनहीन बनाने की प्रार्थना करते हैं। तो आपकी देह की वह कौन सी भूमिका है, जिसमें ये सब गुण हैं, जिसमें आप बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-धनहीन हों। वह है आपकी–**भस्मी।** मेरी देह है, तो वह भस्मी अवश्य बनेगी, जब भस्मी बनेगी तो मेरी देह नहीं होगी। उस भस्मी को अपने जीते जी अपने वर्तमान में आरोपित कर दीजिए। **भस्मी का अतीत मेरी देह नहीं है, क्योंकि उसका कोई भविष्य नहीं है। इसलिए स्वयं में भस्मी का अपना वर्तमान भी नहीं है।** यदि भस्मी भी होगी और देह भी होगी तो वह देह मेरी हो ही नहीं सकती। वह ईश्वर की ही होगी, क्योंकि ईश्वर ने आपकी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। आप स्वयं भी भस्मी रूप बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धनहीन हो गए हैं। जो देह है, वह ईश्वरीय है और ईश्वर अपनी बल, बुद्धि, विद्या एवं अपनी समर्थ, शक्ति तथा अपने तन, मन व धन से आपका शेष जीवन चलाएँगे। **आपका बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति, तन, मन, धन सब ईश्वर का होगा और आप उसका आनन्द लेंगे।** आपकी समस्त स्मृतियाँ समाप्त हो जाएँगी व सब अनुभूतियाँ ही अनुभूतियाँ होंगी। उस देह को कहा है–**यथार्थ-देह। यथार्थ-देह** में स्मृतियाँ हो ही नहीं सकतीं, क्योंकि स्मृतियाँ जन्म-मृत्यु से बँधी काल्पनिक देह में ही हैं। **कल्पना वाली देह में हम सुख-दुःख में कलपते ही रहते हैं। यथार्थ-देह ईश्वरीय है।** जन्म और मृत्यु के बीच बँधी इस देह का जन्म और मृत्यु दोनों काल्पनिक हैं, क्योंकि न कभी किसी ने अपना जन्म देखा है, न ही मृत्यु। अतः जन्म और मृत्यु के दो छोरों में बँधी काल्पनिक देह का काल है। अकाल काल्पनिक नहीं है। अकाल यथार्थ है।

जीवन व देह का उद्देश्य क्या है? यही कि मैं देह से देहातीत हो जाऊँ। इस काल्पनिक देह से मैं अपनी यथार्थ देह में प्रवेश कर जाऊँ। उस यथार्थ देह को प्राप्त करने के लिए ही आपको देह चाहिए। आपकी देह नहीं

होगी तो भस्मी कैसे होगी, तो देह का प्रयोग भस्मी के लिए करना है। फिर आप जीवन का आनन्द देखिए, आपने क्या करना है ! उस काल में जो भी संकल्प होंगे, वे समय-समय पर आपके सम्मुख प्रकट होते रहेंगे। इस अवस्था की प्राप्ति ही आपके जीवन का एकमात्र कर्म व लक्ष्य है। यही शिवत्व है। शिव इसीलिए भस्मी ओढ़कर रखता है। **ईश्वर कालातीत है, अकाल है। ईश्वर का कोई भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं होता। वह शाश्वत्, चिरन्तन, ठोस-घन-शिला सच्चिदानंद है।** जो आपकी यथार्थ देह होगी वह भी कालातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, देशातीत व मायातीत होगीः—

''सच्चिदानन्दोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(15, 16 सितम्बर 2005)

जीवन में भविष्य और जीवन का भविष्य

मानव-देह धारण होना बहुत बड़ी ईश्वरीय घटना है, लेकिन उससे भी बड़ी बात है, मानव-देह के मूल्य का ज्ञान होना। साथ ही मानव-देह के मूल्यांकन के बाद उसका सदुपयोग होना और भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणतः कोई बहुत भव्य महल में उसके महत्त्व का ज्ञान न होने की वजह से घसियारे की तरह ही रहता रहे ! उचित उपयोग के लिए यह ज्ञान होना आवश्यक है, कि जहाँ वह रह रहा है, उसका महत्त्व क्या है? तो **मानव-देह का मूल्य जानने के लिए आवश्यक है, कि हम माया से हटकर चलें। मानव-देह पंच-महाभूतों की मायिक सृष्टि का अंग है, तो इसका सही मूल्यांकन हम माया द्वारा, माया में रहकर नहीं कर सकते।** इसलिए प्रभु ने केवल मानव को ही माया अथवा प्रकृति का बाध करने की प्रतिभा व शक्ति दी है। यदि हम प्रकृति व माया में ही लिप्त रहेंगे, तो हमें मानव-जीवन के मूल्य का ज्ञान नहीं होगा, जिस प्रकार कि पशुओं को नहीं होता। इसलिए हम अति साधारण, केवल मात्रात्मक जीवन-यापन करते हुए पुनः पुनः प्रारब्ध के जाल में जन्मों-जन्मान्तरों में भटकते रहते हैं। एक जन्म में पापों और पुण्यों के फलस्वरूप प्रारब्ध बना, उसका दूसरे जन्म में भोग हुआ। इस जन्म के प्रारब्ध का अगले जन्म में और यह सिलसिला अनवरत चलता रहता है। इस प्रारब्ध के बाध के लिए प्रकृति का बाध करना होगा। इसका अन्त होना चाहिए, क्योंकि इसके अन्त के साथ ही विशुद्ध मानव-जीवन का प्रारम्भ होता है।

हम सभी मानव प्रकृति का बाध करने की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का दुरुपयोग, देह व जीवन के सुखों के लिए करते हैं। अपने खाने-पीने, सोने-जागने, मिलन-व्यवहार करने में हम प्रकृति का बाध करते हैं और इसमें हम दुःखों, रोगों, कष्टों तथा व्याधियों में घिर जाते हैं। **एक तो ईश्वर-विमुखता के कारण प्रकृति हमारे प्रतिकूल हो जाती है और दूसरे हमारा अपने निजी सुखों के लिए प्रकृति में हस्तक्षेप दैवीय संस्थान सहन नहीं करते।** यदि कोई आपसे प्रेम करता हो और आप उसका विरोध करें तो वह सहन कर लेगा, लेकिन जो आपके प्रतिकूल हो, उसका आप विरोध करें तो वह अवश्य ही आपके महाप्रतिकूल होगा। हम प्रकृति का बाध अपने दैहिक सुखों, भौतिक प्राप्तियों और निजी स्वार्थों के लिए करते हैं, जैसेकि पृथ्वी की खानों का दोहन व शोषण करते ही रहते हैं। कोयला, पैट्रोल आदि खनिज निकालते हैं, पेड़ों को काटते हैं। इससे प्रकृति कुपित होकर विकराल एवं प्रचण्डतम् रूप धारण कर लेती है। प्रकृति मानव को भयंकर सज़ाएँ देकर पशु से भी बदतर, जीवन-यापन करने को विवश कर देती है।

हम माया से ऊपर कैसे उठें? महामाया के सान्निध्य के लिए प्रकृति का बाध होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः प्रकृति का बाध हमें प्राकृतिक रूप से ही करना चाहिए। इसके लिए अप्राकृतिक साधन मत अपनाइए। अप्राकृतिक रूप से मायिक प्रकृति का बाध करने से आपमें आध्यात्मिक शक्तियाँ, कुछ सिद्धियाँ आदि आ जाएँगी, लेकिन अन्ततः उनका परिणाम आपके लिए और आपका अनुसरण करने वालों, दोनों के लिए भयंकर व विनाशकारी ही होगा। अतः प्रकृति का बाध ईश्वर-प्रदत्त प्राकृतिक प्रतिभाओं द्वारा करना ही सर्वोत्तम है। इसमें प्रकृति ही आपकी सहायता करती है।

अनेक तपस्वियों को देह व प्रकृति का बाध करते हुए व भयंकर कष्ट सहते हमने देखा है। अतः मन में प्रश्न उठा, कि इस तप का अर्थ क्या है? ईश्वर की प्राप्ति के लिए लोग प्रकृति का बाध करते हैं। लेकिन उसके लिए जो साधन वे अपनाते हैं, क्या वे गुणात्मक और सहनीय नहीं हो सकते?

क्या हम माया का, माया द्वारा सहज प्राकृतिक रूप से बाध नहीं कर सकते? उसका एक ही उपाय है, कि **जिस प्रकार हमें जीवन में विभिन्न अनिश्चित भविष्यों को ढोने की आदत है, हम जीवन के अन्तिम, निश्चित भविष्य 'भस्मी' को भी ढो लें।**

मैंने इसी जन्म में अपने विभिन्न रूप देखे। बचपन, विद्यार्थी-जीवन, जवानी, विवाह, एक बच्चे का पिता, दो बच्चों का पिता और न जाने मैं क्या-क्या बना। अपने आपको विभिन्न रूपों में रूपान्तरित व परिवर्तित देखता रहा। इन परिवर्तनों व रूपान्तरों का अर्थ क्या है? क्या मैं कोई ऐसा परिवर्तन नहीं कर सकता, जिसमें मैं जीवन-काल में जीवन व देह से परे हो जाऊँ। कोई मुझे ऐसा स्थायी पद मिल जाए, जिससे रिटायर होने का अवसर ही न हो। मेरा वह स्थायी, अक्षुण्ण, अविरल व अकाट्य पद हो। जब मैं जीवन में अस्थाई पदों के लिए लालायित हो सकता हूँ, जो मैं जानता हूँ, हमेशा नहीं रहेंगे, तो उस स्थायी पद का इच्छुक क्यों नहीं हो सकता ! उ**सकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु के चरणों में जाएँ, वही बताएगा कि किस प्रकार जीवन-काल में तुम देहातीत अक्षुण्ण पद को प्राप्त कर सकोगे।** अपनी देह के अन्तिम भविष्य, भस्मी को धारण करने का सद्गुरु-कृपा से अभ्यास करना पड़ेगा। **एक जन्म में इष्ट-कृपा से इसकी धारणा ही बन जाए, तो भी पर्याप्त है। शेष सब कार्य प्रभु-कृपा से स्वतः ही आपसे हो जाएगा।** यह कार्य आपके करने से नहीं होगा। बस आप केवल आश्वस्त हो जाएँ, कि यही एक मार्ग है, जिससे पंच-महाभूतों की मायिक सृष्टि से बाहर आया जा सकता है।

मानव-देह धारण करके तथाकथित होश सम्भालते ही हम सब के सम्मुख दो प्रकार के भविष्य होते हैं। पहला, **जीवन में भविष्य** और दूसरा, **जीवन का भविष्य। जीवन में भविष्य** अनेक हैं, मैं धन प्राप्त कर लूँ, उच्च पद, प्रतिष्ठा, डिग्रियाँ प्राप्त कर लूँ, सुन्दर भवन मिल जाए, मेरा जीवन-साथी सुन्दर हो, मेरे बच्चे योग्य एवं आज्ञाकारी हों, आदि-आदि। इसी प्रकार अनेक भविष्य और उनकी पूर्ति की योजनाओं में हमारा

दिल-दिमाग उलझा रहता है। एक भविष्य पूरा होता है, दूसरा खड़ा हो जाता है। **जीवन में जितने भविष्य हैं, उनकी पूर्ति होना अनिश्चित है, क्योंकि हमें अपने अगले क्षण की सुनिश्चितता नहीं है।** कल का सूरज मैं देख भी पाऊँगा या नहीं ! यदि मेरा जीवन रहे तो भी जीवन में मैंने जो-जो भविष्य संजोए हैं, वे अनिश्चित हैं, साकार हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते। साथ ही हम सबका एक स्वभाव है, ईश्वर-प्रदत्त प्रकृति है, कि हम जीवन में जो भविष्य हैं, उन्हें अपने वर्तमान में ढोकर चलते हैं, **सोचते हैं, मैं यह बन जाऊँगा, लेकिन हम अज्ञात रूप से यह मान लेते हैं, कि मैं यह बन गया हूँ।** लाटरी का टिकट खरीदते ही अनजाने में ऐसा समझ लेते हैं, कि लाटरी मेरी ही निकलनी है। इसलिए जब नहीं निकलती तो मैं निराश हो जाता हूँ, कि मैं दुर्भाग्यशाली हूँ व मेरा दस लाख रुपये का नुकसान हो गया, क्योंकि टिकट खरीदते ही लाटरी के धन-लाभ रूपी भविष्य को मैंने अपने वर्तमान में ढो लिया था। वह तथाकथित भविष्य ही होता है। **अतः अज्ञात रूप से इन अनिश्चित भविष्यों को हम अपने वर्तमान में सुनिश्चित मान बैठते हैं और ज्ञात रूप से उनके लिए कार्य करते हैं। हमारे समस्त दुःखों-सुखों का कारण हमारी यह सहज मानवीय-प्रवृत्ति ही है।** समय आने पर वह भविष्य पूर्ण हो जाता है, तो हम कुछ देर के लिए सुखी हो जाते हैं, यदि नहीं होता तो हम दुःखी हो जाते हैं। जबकि हम भली प्रकार से जानते हैं, कि अगले क्षण क्या होना है, यह हमारे हाथ में नहीं है। हमारे जीवन का एक-एक पल उस कालेश्वर के अधीन है। कोई वस्तु, धन, पद आदि या फिर व्यवसाय में लाभ अथवा इच्छित सम्पदा हमें मिले या न मिले, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है, हम सब यह जानते हैं। लेकिन फिर भी **अनिश्चित भविष्य को हम अज्ञात रूप से, अनजाने में सुनिश्चित मानकर अपने जीवन्त वर्तमान में निश्चितरूप से ढो लेते हैं।** हम नहीं जानते कि हमने उस अनिश्चित भविष्य को **'हुआ-हुआ'** मानकर ढो लिया है। इसीलिए तो लाटरी न निकलने पर अथवा किसी धन, पद, लाभ या डिग्री के न मिलने पर, हम

निराश व तनावित हो जाते हैं। अवसाद में घिर जाते हैं, स्वयं को दुर्भाग्यशाली मान बैठते हैं।

जीवन में इन्हीं भविष्यों के लिए हम आजीवन संघर्षरत रहते हैं। तन्त्र-मन्त्र व ज्योतिषियों के पास जा-जाकर समय, धन व शक्तियों को व्यर्थ बरबाद करते रहते हैं। यहाँ तक कि ईश्वर की पूजा-उपासना तथा अनेक साधनापरक प्रकरण भी इन्हीं विभिन्न अनिश्चित भविष्यों की पूर्ति के लिए करते हुए, जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकते रहते हैं, क्योंकि किसी न किसी अपूर्ण भविष्य की आसक्ति बनी ही रहती है, जो हमारे पुनर्जन्म का कारण बनती है। जीवन-काल में हमारी समस्त दैहिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियाँ इसी में न केवल व्यर्थ अपितु नकारात्मक रूप से बरबाद होती रहती हैं। **वह जीवन जो स्वयं में अस्थाई है, उसमें हम पाना भी वह सब कुछ चाहते हैं, जो अस्थाई ही है।** न केवल पाना चाहते हैं, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए हम दीवाने होते हैं। जबकि हम जानते हैं, कि जो हम चाहते हैं, वह जीवन की ही भाँति अस्थाई व क्षण-भंगुर है। **हम नश्वर से नश्वर एकत्र करते-करते मर जाते हैं।** देह तो आनी-जानी है, लेकिन जो नश्वर नहीं है, जो शाश्वत है, वह मेरा स्वरूप क्या है, कैसा है? उसकी अनुभूति के लिए मुझे इस मायिक-देह से ऊपर उठना होगा। **इस मायिक पंच-महाभूतों की देह से मैं एकत्र वही कर रहा हूँ, जो इस पंच-महाभूतों की मायिक देह के पंच-महाभूतों में विलीन हो जाने के साथ ही विलीन हो जाएगा।** क्योंकि जो भी पाएँगे, वे वस्तुएँ या तो हमें छोड़ देंगी या हम उन वस्तुओं को छोड़कर चले जाएँगे। कोई भी धन-सम्पदा, सम्बन्धी, मित्र-शत्रु, पद-प्रतिष्ठा हमेशा नहीं रहती। आज किसी उच्च-पद पर हैं, तो कभी न कभी रिटायर होना ही पड़ेगा। यह भी हो सकता है, कि कल हम ही उसे छोड़ कर चले जाएँ। जीवन में भविष्यों का अन्ततः यही परिणाम है।

सम्पूर्ण वक्तव्य का सार यह है, कि हम **सबके पास एक ईश्वर-प्रदत्त सहज स्वाभाविक मानवीय प्रकृतिगत प्रतिभा है, कि हम किसी भी अनिश्चित भविष्य को अनजाने में अपने वर्तमान में ही सुनिश्चित**

मानकर निश्चित रूप से तथाकथित योजनाएँ बनाकर उसे पाने के लिए कार्यरत हो जाते हैं। अनजाने में तो यह सब कुछ अवचेतना के स्तर पर होता है, लेकिन ज्ञात रूप से हम उसकी पूर्ति के लिए संघर्ष करते हैं और कार्य करते हैं। विभिन्न उपाय व योजनाओं का अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ क्रियान्वयन करते हैं। स्वयं को कर्मठ और कर्मयोगी तक मान बैठते हैं। यहाँ तक कि इन्हीं के लिए यज्ञ-हवन, पूजा-उपासना, जप-तप, प्रार्थना, ध्यान आदि तथाकथित भक्ति-प्रकरण भी करते हैं। ये तथाकथित भक्ति इसीलिए है, क्योंकि इनके पीछे हमारी नीयत मात्र यह होती है, कि हमारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ। इन प्रकरणों का ईश्वर की कामना या उसके बारे में ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस भक्ति के नेपथ्य में हमारी भौतिक, अस्थाई, क्षण-भंगुर स्वार्थ और कामनाएँ ही प्रेरक होती हैं। हम सांसारिक **राग** में ही फँसे रहते हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं, कि जो हम तथाकथित **कर रहे हैं,** वह भी हमारे **द्वारा हो रहा है। हमारा छोटे से छोटा कार्य भी निजी अथवा व्यक्तिगत नहीं होता।** सम्पूर्ण ईश्वरीय-प्रकृति व अपने सूक्ष्म-जगत का अनुकूलन हमारी किसी भी क्रिया के लिए हमें अपेक्षित होता है। **हमारा हर कृत्य दैवीय संस्थानों द्वारा पारित व अनुमोदित होने पर ही होता हुआ दृष्टिगत होता है। नहीं तो हमारी अनेक योजनाएँ व सोचे हुए कार्य धरे के धरे रह जाते हैं।**

पहले तो हमारी सोच ही हमारे हाथ में नहीं होती। ईश्वर ही हमारे मस्तिष्क को चलाता है, जैसे वह हमारी देह के अन्य अंग हृदय, गुर्दे आदि चला रहा है। **कोई भी सोच अथवा विचार हमें वही देता है, फिर उस सोच का क्रियान्वयन हमारे हाथ में कैसे हो सकता है?** सोच, व्यक्तिगत हो सकती है, लेकिन उसका क्रियान्वयन तो व्यक्तिगत है ही नहीं। समस्त ईश्वरीय सत्ता, अपनी देह सहित समस्त सूक्ष्म जगत, मौसम, वातावरण का सहयोग छोटी से छोटी सोच के क्रियान्वयन के लिए अपेक्षित है। कोई भी कृत्य व्यक्तिगत नहीं है। लेकिन फिर भी अनिश्चित भविष्यों को अनजाने में सुनिश्चित मानकर, हमने अपने जीवन्त वर्तमान में निश्चित रूप से लाद

लिया है। ज्ञात रूप से उनकी पूर्ति के लिए हम जानबूझ कर संघर्ष करते हैं तथा विभिन्न कृत्य करते हैं। वे भी कृत्य भी हम नहीं करते, वे भी हमारे द्वारा करवाए जाते हैं।

जो भी हम कर रहे हैं, वह हो रहा है और जो होना है, वही हम करते हैं। हम जानबूझ कर इस नग्न सत्य को उपेक्षित किए रहते हैं और सोचते हैं, कि हम कर रहे हैं। जबकि हम जानते हैं, कि हमारा जन्म हुआ, जिसके लिए हमने कुछ नहीं किया। माँ, बाप, घर, परिवार, देश, समाज, स्कूल आदि सब हमें बने-बनाए मिले, हमने कुछ नहीं किया। यह सुन्दर वसुन्धरा, विस्तृत नीला आकाश, शीतल, मन्द, सुगन्धित त्रिविध समीर, झरने, प्रपात, समुद्र, नदियाँ, जलाशय, ये जलचर, नभचर, खग, मृग, तरु, पल्लव, सूरज, चाँद, नक्षत्र आदि जब मैं धरती पर लाया गया, मेरे लिए सब कुछ मुझे बना बनाया था। मैंने इन सबकी प्राप्ति के लिए कुछ नहीं किया। मरने के बाद अर्थी, शमशान सब कुछ बना-बनाया मिलेगा। हम जीवन के निर्माता स्वयं बनना चाहते हैं। देश व समाज के नेता बनना चाहते हैं। **अपने जीवन को भी हम स्वयं नहीं चला रहे, तो समाज, देश व विश्व के लीडर कैसे हो सकते हैं !** एक महाशक्ति है, जो हम सबको चला रही है। हम उसे मानें या न मानें, वह ही हमारी नियन्ता है। हम सब उसके अधीन अनुचालित हैं।

हम ईश्वर की अनुभूति करना चाहते हैं, सद् को जानना चाहते हैं, जबकि उसकी छाया, प्रकृति जो मायिक है, उसके बारे में भी कुछ नहीं जानते। पहले अपने को जानिए, अपने जीवन का अध्ययन करिए, आप क्या कर रहे हैं, मान क्या रहे हैं? असत्य की अनुभूति करिए पहले, सत्य तो बहुत दूर की बात है। दैवीय कानून यह है, कि जब हमारे मन में यह भाव व मान्यता रहती है, कि मैंने इतना सब कुछ किया है। मैं बहुत परिश्रमी, बुद्धिमान, अनुशासित, कर्मठ व सुव्यवस्थित हूँ। इस भाव के साथ जीवन में कुछ प्राप्त कर भी लेते हैं, तो उस प्राप्ति का भोग हम कभी नहीं कर सकते। वह प्राप्ति ही हमारे दुःख, विक्षेप, तनाव आदि का कारण बनी रहेगी। **जानबूझ कर हम इस सत्य को उपेक्षित किए रहते हैं, कि जो प्राप्त होगा**

या नहीं होगा, उसका मेरे करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो होना है वही होगा। यदि वह करने से होता है, तो मुझे यह भ्रम हो जाता है, कि मेरे किए से हुआ है। जीवन में जो कुछ भी हम प्राप्त करते हैं, वह होना ही होता है। हम चाहे उसके लिए कुछ करें या न करें। जो मिलना है, वह मिलेगा ही और जो खोना है, वह खोएगा ही। उसका आपके करने या न करने से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

कभी-कभी कुछ न करने से कुछ लाभ हो जाता है और करने से काम बिगड़ जाता है। अतः पागलपनवश, मूर्खतावश, मायावश, भ्रमवश, जाने-अनजाने में हम यह सोचते हैं, कि हमारे करने से कोई वस्तु, पद, सम्बन्ध, धन-सम्पदा या पद-प्रतिष्ठा आदि विभिन्न भविष्य पूरे हुए हैं। यह दैवीय कानून है, कि उस प्राप्ति का हम कभी भी भोग कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत वे वस्तुएँ और उनकी प्राप्तियाँ ही आपके दुःख का कारण बनी रहेंगीं। यह ही वह जीवन है, जो हम तथाकथित स्व-अर्जित जी रहे हैं या तथाकथित लीड कर रहे हैं। यह समस्त काल्पनिक जीवन है, जो हम अधिकतर जी रहे हैं। कर्म की परिभाषा हम नहीं जानते, कि कर्म है क्या? जिसे हम कर्म कहते हैं, वह कर्म तो घोड़ा, गधा, बैल, ऊँट आदि पशु भी दिन-रात कर रहे हैं, पर उन्हें क्या मिलता है? वे इतना कर्म करके भी कुछ माँगते नहीं और आनन्द में रहते हैं। लेकिन हम तो कुछ प्राप्ति होने पर सुखी और कुछ न मिलने पर महा अवसाद में घिर जाते हैं।

मानव-देह धारण करके हमारा कर्म क्या है? **जो हमारे हाथों से ईश्वर करवा दे, उसकी वाह-वाह करना ही हमारा कर्म है। हाथ मेरे हैं, पर उनसे करवा ईश्वर रहा है।** जब यह तथ्य मेरे पल्ले पड़ जाएगा, अनुभूति में आ जाएगा, तो अवश्य ही अपने हर कृत्य में ईश्वर की क्रिया देखूँगा और उसकी प्रशंसा करूँगा। **क्योंकि काम होना मेरे हाथ में नहीं है, पर उसकी कृपा से मेरे द्वारा कोई कार्य हो जाए तो उसका शुक्र करना मेरे हाथ में है।** जो हमारे हाथों से करवा दे या न करवाए, जो हमें मिल जाए या न मिले, उसकी मैं वाह-वाह करूँ। **कोई वस्तु छिन जाए तब भी मेरे मन में यही**

भाव हो, कि प्रभु ने इसमें मेरा कोई हित ही देखा होगा।

सारांश में एक अस्थाई जीवन में, अस्थाई व अनिश्चित भविष्यों को अज्ञात रूप से अनजाने में सुनिश्चित मानकर, हम अपने जीवन्त वर्तमान में निश्चित रूप से लादकर, ज्ञात रूप से उनकी पूर्ति के लिए कार्यरत रहते हैं। जो हम करते हैं, वह हमारे द्वारा करवाया जाता है। वह भविष्य जो अनिश्चित है, उसमें किसी प्राप्ति अथवा खोने का, मेरे द्वारा हुए कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह व्यावहारिक अध्यात्म है। देवी, देवताओं, अवतारों की लीलाओं, कथाओं को प्रणाम करिए और अपने जीवन का आध्यात्मिक दृष्टि से अध्ययन करिए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और योगेश्वर कृष्ण ने जो किया, मैं नहीं कर सकता। मैं क्या कर रहा हूँ, मेरे द्वारा क्या करवाया जा रहा है? मेरी मान्यताएँ, विचार, भाव, क्या, कैसे हैं ? इसे जानने का प्रयास कीजिए, स्वयं के साथ बैठिए।

किसी ने अपना स्वयं का जन्म नहीं देखा। हमने अपने बच्चों को, दूसरे बच्चों को पैदा होते देखा है। अपना जन्म किसी ने नहीं देखा और न देख सकता है। अतः जन्म एक कल्पना है। इसी प्रकार हम दूसरे को मरते हुए देखते हैं, लेकिन अपनी स्वयं की मृत्यु किसी ने भी आज तक न देखी है, न भविष्य में देखने की सम्भावना है। उदाहरणतः मैंने अवन्तिका नगरी नहीं देखी, परन्तु यह सम्भव तो है, कि मैं कभी देख सकता हूँ, इसलिए अवन्तिका कल्पना नहीं है। **लेकिन जन्म और मृत्यु कल्पना इसलिए हैं, क्योंकि न आज तक किसी ने अपना स्वयं का जन्म देखा है और न मृत्यु देखी है और न भविष्य में कभी कोई देख सकता है। फिर भी हमने जन्म को माना है। इसलिए हमें इतना ज्ञान है, कि मृत्यु अवश्य होगी। जन्म हुआ, मेरी कल्पना है, मेरी जानकारी में नहीं था। मैं मरूँगा इसका मुझे पूर्ण ज्ञान है। क्यों मरूँगा? क्योंकि मैं पैदा हुआ।** लेकिन मैं पैदा क्यों हुआ? इसका उत्तर यह नहीं है, कि मैं पैदा हुआ, इसलिए मरूँगा। **मैं निश्चित रूप से मरने के लिए पैदा नहीं हुआ, मेरे पैदा होने का अवश्य ही कोई और कारण होगा, जो मुझे ज्ञात नहीं है।**

मैं संसार में स्वयं आता तो जानता, कि मैं क्यों आया हूँ। मैं संसार में लाया गया हूँ। तो अवश्य ही उस लाने वाले का मुझे इस संसार में लाने के नेपथ्य में कोई विशेष कारण रहा होगा। वही जानता है, कि मेरा जन्म क्यों हुआ है? वह मुझे नाली का कीड़ा भी बना सकता था, क्योंकि मक्खी, मच्छर, चूहा, साँप, बिच्छू आदि कीट-पतंगे व जानवर भी तो उसी ने बनाए हैं। मानव-देह देकर उसने मुझे संसार में पैदा क्यों किया है? **मुझे पूर्ण अधिकार है, इस कर्म का, कि मैं उससे पूछूँ कि मुझे संसार में क्यों लाया गया है?** जबकि मेरे हाथों द्वारा जो भी हो रहा है, वह मेरे द्वारा करवाया जा रहा है और मुझे ज्ञात है, कि उन कृत्यों या मेरे द्वारा हुए कर्मों का, भविष्य में होने वाली प्राप्तियों या खोने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरा है **जीवन का भविष्य,** जो सबका एक ही है। **जीवन में भविष्य बहुमुखी हैं, अनेक हैं, अनिश्चित हैं।** यदि प्राप्तियाँ हों, तो भी वे अस्थायी हैं। लेकिन हम सबके **जीवन का भविष्य** एक ही है, वह सुनिश्चित है और स्थायी है। क्योंकि उस भविष्य के बाद भविष्यों की श्रंखला ही समाप्त हो जाती है। वह है **'हमारी भस्मी'।** हमारा भविष्य भस्मी है, लेकिन उस भस्मी का अतीत हम नहीं हैं। हम जानते हैं, कि हमारा अन्तिम भविष्य भस्मी ही है और हम सब उसी ओर बढ़ रहे हैं। कुछ भी बन जाएँ, कुछ भी पा लें या खो दें, लेकिन भस्मी बनेंगे ही। भस्मी बनने के बाद इस समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि का ही लय हो जाएगा। हम और हमारा समस्त संसार समाप्त हो जाएगा। यह भविष्य जो निश्चित है, उसे हम जानबूझ कर अपने जीवन्त वर्तमान में ढोना नहीं चाहते। **अनिश्चित को अनजाने में, निश्चित मानकर ढो लेते हैं और निश्चित को जानबूझकर उपेक्षित करते रहते हैं।** किसी से कोई पूछता भी नहीं, कि आपने अपनी भस्मी या मृत्यु के बारे में सोचा है ! जीवन का जो निश्चित भविष्य है, उसके बारे में सोचना भी नहीं चाहते। **यदि इस जीवन के निश्चित, प्रत्यक्ष-दर्शित भविष्य को हम जानबूझकर निश्चित रूप से अपने जीवन्त वर्तमान में ढो लें, तो उसके लिए करना कुछ भी नहीं है। केवल अपने जीवन्त वर्तमान में अवधारणा करनी है, कि**

मैं भस्मी बन गया हूँ।

हमारी देह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश पंच-महाभूतों की बनी है। मृत्योपरान्त जब यह जलेगी तो इन्हीं पंच-महाभूतों में विलीन हो जाएगी और शेष रहेगी डेढ़-दो-किलो भस्मी। भस्मी इन पाँच तत्त्वों से अतीत **परातत्त्व** है। मेरी पाँच तत्त्वों से बनी इस देह का निश्चित भविष्य **परातत्त्व है, जो तत्त्वातीत तत्त्व है।** उस परातत्त्व को जो हमारा निश्चित भविष्य है, उसे हम जानबूझ कर अपने जीवन्त वर्तमान में धारण कर लें, कि मैं भस्मी बन गया हूँ, जो कल्पना नहीं है। यह तो एक निश्चित भविष्य है, जो हमने अपने वर्तमान में ढोया है। **जो होगा ही, उसकी हमने अवधारणा कर ली, कि हो गया है।** यह कल्पना ही यथार्थ में बदल जाएगी। जीवन में भविष्य अनिश्चित हैं, इसलिए वे कल्पना हो सकते हैं। लेकिन भस्मी बनना तो निश्चित, परिलक्षित भविष्य है, इसे कोई नकार नहीं सकता।

मृत्यु जीवन का अन्त है। इस अन्त का भी एक अन्त है, हमारी भस्मी। मृत्यु के उपरान्त ही तो भस्मी बनेगी, जिसे हम कभी नहीं देख सकते। लेकिन भस्मी रूप में इस परातत्त्व की जब हमने जीते जी अवधारणा कर ली, तो **उसके बाद जो जीवन होगा, वह मेरा नहीं होगा। वह पूर्णतया ईश्वरीय होगा। यह कृपा-साध्य है। परम इष्ट-कृपा व सद्गुरु-कृपा से ही यह सम्भव है। जब हम जीवन-काल में ही इस भस्मी की अवधारणा के बाद जिएँगे, तो माया से बाहर आ जाएँगे।** जन्म के बाद जीवन प्रारम्भ होता है और फिर जीवन का अन्त होने पर मृत्यु होती है और देह भस्मी बन जाती है। यह प्राकृतिक है, मायिक है। पशु-पक्षी, कीट-पतंगे समस्त प्राणी-जगत जन्म के बाद मरते हैं और हम भी ऐसे ही मरते हैं। हम उस प्राकृतिक क्रिया का बाध करें। जीवन के अन्तिम भविष्य का बोध किसी पशु, पक्षी, कीट, पतंगे व प्राणी-जगत को तो नहीं है, लेकिन मानव होने के नाते हमें है। **उस अन्तिम भविष्य को जीवन-काल में आत्मसात् कर लें, तो जीवन-काल में ही हमें मोक्ष प्राप्त हो जाएगा। मृत्यु का नाम मोक्ष नहीं है, लेकिन जीवन में जीते जी भस्मी की अवधारणा का नाम मोक्ष है।** यदि

जीवन के बाद मृत्यु से मोक्ष मिलता होता तो जानवरों, पक्षियों, कीट-पतंगों आदि सबको मोक्ष मिलना चाहिए था, क्योंकि सभी मरते हैं। जब हम जीवन-काल में अपने मानस में भस्मी को आत्मसात् कर लेते हैं, तो हमारा पदार्पण मोक्ष-द्वार पर हो जाता है।

परातत्त्व **'भस्मी'** जीते जी अवधारणा में आ जाए, यह महाकृपा-साध्य है। वह परातत्त्व सबकी देह का निश्चित भविष्य है, लेकिन उसका अतीत कोई देह नहीं हैं और जिसका **अतीत नहीं होता उसका भविष्य भी नहीं होता।** क्योंकि भस्मी पंच-महाभूतों से परे तत्त्वातीत, परातत्त्व है। इस प्रकार हमने उस भस्मी का सदुपयोग जीते जी किया है। **मरने के बाद तो हम ही नहीं रहेंगे, तो उस भस्मी का सदुपयोग क्या होगा? भस्मी देह का तत्त्वातीत तत्त्व है।** तो उस परातत्त्व को अपने जीवन-काल में देह के रहते, देह में अवधारित कर लिया, **उसके बाद जो जीवन रहेगा, वह काल्पनिक नहीं होगा, वह यथार्थ जीवन होगा।** मेरी देह ने जब उस भस्मी को धारण कर लिया, जो सबकी समान है, तो मेरी देह में भस्मी का जामन लग गया। दूध में दही का जामन लगाने पर दूध का दही हो जाता है और फिर वह दही पुनः दूध में परिवर्तित नहीं हो सकता। करोड़ों जन्मों तथा हज़ारों उपायों से भी यह असम्भव होगा। इसी प्रकार भस्मी का जामन लगते ही मेरी देह समाप्त हो जाएगी और ईश्वर की देह हो जाएगी। उसकी समस्त क्रियाओं व अक्रियाओं का प्रेरक, संचालक वही परमात्मा होगा। मैं जीवन का भरपूर आनन्द लूँगा तथा Duty Free हो जाऊँगा।

पहले जो देख रहे थे आप, अब भी देखेंगे, लेकिन दृष्टि बदल जाएगी। पहले जो सुन रहे थे आप, अब भी सुनेंगे, लेकिन अर्थ बदल जाएँगे। पहले जो स्पर्श कर रहे थे अब भी करेंगे, लेकिन संवेदना बदल जाएगी। पहले जो चख रहे थे, अब भी चखेंगे, लेकिन स्वाद बदल जाएगा। पहले जो सूँघ रहे थे, अब भी सूँघेंगे लेकिन, अधिग्रहण बदल जाएगा। **सुख-दुःख की समस्त स्मृतियाँ आनन्द की अनुभूति में रूपान्तरित हो जाएँगी। होगा वैसा ही सब कुछ, लेकिन वही कुछ नहीं होगा। क्योंकि मेरी देह, तेरी देह बन**

जाएगी। अधिपत्य व अध्यास बदलते ही आनन्द ही आनन्द हो जाएगा। एक बार जब माया का आवरण हटता है, तो दुबारा कभी नहीं पड़ता। **मानव-देह धारण करने के बाद मेरा कर्तव्य था, कि देह के रहते मैं अनुभूति कर लूँ, कि मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। सब कुछ स्वतः प्राकृतिक है, ईश्वरीय सत्ता में हो रहा है।** मेरा जन्म ही इसलिए हुआ था, कि मैं इस परम सत्य की अनुभूति कर लूँ, जिसकी अनुभूति करते ही मैं जन्म-मृत्यु से परे हो जाऊँगाः—

''मृत्युंजय महादेव, त्राहि माम् शरणागतः
जन्म मृत्यु जरा रोगे, पीड़ितम् कर्मबन्धनैः।''

मैं जन्म, मृत्यु, रोग व बुढ़ापे आदि व्याधियों से पीड़ित, कर्मों के कारण नहीं हूँ, बल्कि कर्म के बन्धन के कारण हूँ कि मैंने किया है अथवा मैंने नहीं किया है। **जब तक अपनी भस्मी को जीवन्त वर्तमान में नहीं ढोएँगे, तब तक हम इस युगों-युगान्तरों से चलते जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में ही भटकते रहेंगे।** वास्तव में पुनः पुनः धरती पर इस कर्तव्य के साथ ही भेजा जाता हूँ, कि मैं Realise कर लूँ, कि मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। ईश्वर ने तो मुझे अपनी अनुपम व भव्यतम् सृष्टि का आनन्द लेने के लिए भेजा था और मैं स्वयं को देह मानकर इसी के चक्कर में पड़ा भटकता रहा। देह बदलती रही, पर मेरी आसक्तियाँ व **जीवन में** भविष्यों की श्रंखला कभी टूट नहीं पाई। किसी जन्म में विशिष्ट सद्गुरु-कृपा, इष्ट-कृपा व माता-पिता के आशीर्वाद से, मैं **जीवन के** भविष्य की ओर प्रेरित हुआ। अपने सहज मानवीय स्वभाववश, मैंने अपने जीवन्त वर्तमान में **जीवन का** वह निश्चित स्थिर भविष्य ढोया, तो मुझे ईश्वरीय सत्ता तथा जीवन में जितने भविष्य थे, उनसे वैराग हो गया। फिर तो आसक्तियाँ ही भक्ति बन जाएँगी। मेरी समस्त कामनाएँ महाकाम अर्थात् ईश्वर की कामना में समाहित हो जाएँगी।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(17, 21 अक्टूबर, 2005)

पराशक्ति

(भाग – 1)

आज आप समस्त अति जिज्ञासुओं के मध्य इष्ट एवं सद्‌गुरु-कृपा से बहुत अद्‌भुत और चमत्कारिक विषय का रहस्योद्‌घाटन करूँगा, विषय है– **'पराशक्ति'। पराशक्ति** क्या है, उसके लक्षण क्या हैं, उससे सम्पर्क करने की विधि, उसके प्रकाट्‌यके लक्षण व प्रकाट्‌य की आवश्यकता एवं लाभ क्या हैं? इन समस्त पहलुओं पर आपकी जिज्ञासानुसार विचार रखूँगा, आपकी एकाग्रता एवं परम श्रद्धा वांछनीय है। जैसेकि इस व्यास-गद्दी से हम अनेक बार वर्णन कर चुके हैं, कि इन कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों में ईश्वर की परम विलक्षण, चमत्कारिक और उत्कृष्टतम रचना मानव-देह है। यदि इसका आध्यात्मिक-वैज्ञानिक अथवा भौतिक रूप से भी अध्ययन-विश्लेषण व अनुसंधान करें, तो एक ऐसी अवस्था आती है, कि मानव-बुद्धि निरुत्तर हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह सच्चिदानंद ईश्वर, मानव-देह के रूप में स्वयं इस पृथ्वी पर खेलने के लिए उतरा है।

हम जिसे **'पराशक्ति'** कहते हैं, वह हमारी अपनी ही शक्ति है, जिससे हम पराए हो गए हैं। हमसे वह पराई नहीं हुई। हम नाम-रूप की तुच्छ चेतना में अति सीमित हो गए, इसलिए उस शक्ति को आत्मसात् करने की हमारी सामर्थ्य भी अति सीमित हो गई है। वह शक्ति जो शिव में समाहित है। **'शिव'** में छोटी **'इ'** शक्ति की द्योतक है। उस **'पराशक्ति'** के साथ सम्पर्क करने के लिए वर्ष में दो बार **'नवरात्र'** में नौ दिन देवी की आराधना की जाती है। तब रुग्ण, स्वस्थ हो जाता है, निराश आशावान हो जाता है,

हतोत्साहित, उत्साहित हो जाता है, वृद्ध, युवा अनुभव करने लगता है। जब शक्ति का प्रकाट्य होता है, तो भक्तों की मनोवांछित कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। जब हम ईश्वर से एक होना चाहते हैं, तो पूर्ण समर्पण में एक औपचारिकता है, कि हमने जो अपनी समस्त शक्तियाँ देहाध्यासवश, मोह व अज्ञानवश, अहं व मूर्खतावश सीमित कर दी हैं, उनका तहे-दिल से समर्पण कर दें। तभी हम उससे सम्पर्क कर पाएँगे और उसका आशीर्वाद ले सकेंगे। उस महाशक्ति से सम्पर्क के लिए जब हम अपनी शक्तियों (बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति, तन-मन-धन) का समर्पण कर दें, तभी यह सम्भव हो पाएगा, क्योंकि वह शक्ति तो हमारे लिए ही है। वह हमसे पराई हुई ही इसलिए, क्योंकि हम अपनी बल, बुद्धि, विद्या और समर्थ में सीमित हो गए और जब हमने स्वयं को एक नाम-रूप की देह मान लिया। जन्म-मृत्यु में बँधी पाँच तत्त्वों से निर्मित जो नाम-रूप की देह हमें मिली, हमने स्वयं को उससे पहचाना। **इसलिए हमारी अपनी ईश्वरीय शक्ति ही हमारे लिए 'पराशक्ति'** हो गई।

यह जगत मायिक है, लेकिन जब यह है, तो है, क्योंकि यह सद्, चेतन व आनन्द की प्रस्तुति है। किसी भी क्रियान्वयन के लिए शक्ति अपेक्षित है, जैसेकि बिना विद्युत-शक्ति के कोई भी उपकरण कार्यान्वित नहीं होता। दैवीय शक्ति को **'पराशक्ति'** कहते हैं। हम जो जगत देख रहे हैं, इसमें हमारी देह भी है, यह समस्त चराचर जगत और इसकी क्रियाएँ, उस **'पराशक्ति'** के कारण हैं। **'परा'** का अर्थ है **'अन्य'** जो पराई हो, हमारी न हो। **परावलम्बन, पराश्रित, पराई, पराधीन, प्रार्थना अर्थात् जो हमारे हाथ में नहीं हैं,** उसके लिए ईश्वरीय व दैवीय शक्ति के सम्मुख हम आर्तनाद करते हैं, गिड़गिड़ाते हैं। अपना दुःख उसके सामने रखकर उसके उन्मूलन के लिए उससे प्रार्थना करते हैं। उसका आवाहन करते हैं, कृपा के लिए याचना करते हैं, क्योंकि बिना उसकी कृपा के हम अपना जीवन आनन्दमय नहीं बिता सकते।

जहाँ तक हमारी अपनी शक्ति का सम्बन्ध है, यद्यपि वह भी हमारी

नहीं है, लेकिन यदि हम उसे अपनी मान भी लें, तो उसकी एक सीमा है। हमारी बौद्धिक सोच, शारीरिक शक्ति, आर्थिक स्थिति सब कुछ सीमित है और हमारा मानसिक बल भी सीमित है। ईश्वर असीम है, वह निराकार व अकाल है। उसकी सारी संरचना निराकार और अकाल से ही प्रारम्भ होती है और निराकार व अकाल में ही समाहित होती है। तो असीम किसी को सीमित नहीं दे सकता। असीम ने कोई भी सीमित वस्तु नहीं बनाई। मैंने अपनी देह का प्रारम्भ जन्म से माना, लेकिन मेरी अपनी देह का **प्रारम्भारम्भ** वह था, जब माँ के गर्भ में मेरी देह के लिए गर्भाधान हुआ। वह प्रारम्भारम्भ निराकार व अकाल था, क्योंकि देह की उस भ्रूणावस्था को देखा नहीं जा सकता तथा कब वह भ्रूण गर्भ में आया, उस समय की गणना भी नहीं की जा सकती। इस देह का अन्त, मृत्यु में होता है। लेकिन उसका भी एक **अन्त** है, जब यह पंच-महाभूतों की काया पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है, और शेष रह जाती है, मात्र **'भस्मी'।** उस भस्मी बनने की काल-गणना नहीं की जा सकती और भस्मी का स्वयं में कोई आकार भी नहीं है। अतः मानव-देह का **अन्तान्त (भस्मी)** भी निराकार एवं अकाल है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा निर्मित एक-एक कण उसी की तरह असीम है।

ईश्वर द्वारा निर्मित सब कुछ यदि असीम न हो तो एक छोटा सा अणु-परमाणु सम्पूर्ण विश्व के विध्वंस की शक्ति समाहित किए हुए न रहता। यह एक अणु-बम, परमाणु-बम पूरे विश्व को नष्ट कर सकता है। एक भौतिक अणु-परमाणु नग्न आँखों से दिखाई भी नहीं देता, लेकिन जब उसका विस्फोट होता है, तो उसकी असीम शक्तियों को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। हमारी ही देह का प्रारम्भारम्भ एक छोटा सा भ्रूण है, जिसमें हमारा सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड समाहित रहता है। यह देह असंख्य परमाणुओं से निर्मित है। एक नाखून में भी असंख्य परमाणु हैं। इसलिए आपके लिए अपनी शक्तियों का अनुमान लगा पाना भी असम्भव है।

ऐसी मानव-देह प्राप्त करके जब हमने उस पर अपना अधिपत्य कर लिया तो हमारी सोच, शारीरिक-मानसिक बल, सब कुछ सीमित हो गया।

'मैं देह हूँ' इस भाव के साथ अपने एक नाम-रूप में जब मैंने अपने ब्रह्माण्ड को सीमित कर लिया, तो मैं कालबद्ध व साकार होकर विशुद्ध जीवात्मा से तुच्छ सा जीव बन गया। परमात्मा ने एक जीवात्मा के लिए सारा ब्रह्माण्ड निर्मित किया था, लेकिन जीव बनते ही अपनी ही शक्तियाँ **'पराशक्ति'** बन गईं और उनसे हमारा सम्पर्क ही टूट गया। **'मैं देह हूँ'** या **'देह मेरी है',** यह भाव आते ही हम ईश्वर-विमुख हो गए और ईश्वरीय सम्पूर्ण प्रकृति हमारे प्रतिकूल हो गई। हम असंख्य कष्टों, रोगों, पीड़ाओं आदि में घिर गए, जिनका वर्णन मैं अनेक बार कर चुका हूँ।

मानव-देह सम्पूर्ण ईश्वरीय सत्ता का संघनित रूप है, जोकि अति कृपावश हमें मिली है। मानव-देह के समस्त क्रिया-कलाप व अंगों के कार्य उसकी इच्छा से होते हैं, जिसने इस देह को बनाया है। किसी रोग व दोष के निवारण के लिए प्रथम औपचारिकता है, कि हम स्वयं को रोगी मान लें। हम रोग को यदि मान्यता नहीं देंगे तो चिकित्सक के पास क्यों जाएँगे? **हम सब अधिकतर जीवन को रुटीन में ले रहे हैं। जन्म और मृत्यु के बीच में जीवन का एक रुटीन है, जिसमें हम चलते हैं। जब हम रुटीन में रहते हैं तो हमेशा चलते ही रहते हैं (When you are in a routine you are always enroute)** जन्म-मृत्यु के मध्य बँधे जीवन में आगे बढ़ने के चक्कर में हम स्वयं से कितने दूर होते जाते हैं, इसका हमें अनुमान भी नहीं है। हमें रुकना है, ठहरना है। वर्तमान में हमें उस Route यानि **रास्ते** को छोड़कर Root यानि **मूल** को पकड़ना है, कि यह कहानी प्रारम्भ कहाँ से हुई।

जिन भौतिक वस्तुओं, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, ज़मीन-जायदाद, रोटी-कपड़ा-कोठी-मकान की प्राप्ति के लिए जीव भागता रहता है, वे यहीं धरी रह जाती हैं, क्योंकि सब कुछ स्वयं में स्थिर है और ईश्वर भी स्थिर है। ईश्वर पंच-प्राणों का पुंज, ज्योति-स्वरूप, ठोस-घन-शिला की नाईं टस से मस नहीं होता। उसी के पाँचों प्राणों की प्रतिच्छाया है, पंच-महाभूतों में निर्मित यह समस्त चराचर जगत, जिसमें एक हम भी हैं। जिसे पाने के लिए हम आगे

बढ़ रहे हैं, वह स्थिर है। स्थिर को पाने के लिए हमें स्थिर होना है। इसके लिए हमें Root अथवा **मूल** को पकड़ना होगा, कि ईश्वर की सत्ता, उसकी छाया अथवा इस प्रकृति का मूल क्या है? यह प्रकृति किसकी है? समस्त प्राकृतिक उपादानों का अपना-अपना स्वभाव है। जिसकी जो प्रकृति है, वह किसी की तो है न! जो तथाकथित चर-अचर जगत है, वह पंच-महाभूतों में निर्मित है। सबकी अपनी प्रकृति है, जो उस महाप्रकृति अथवा पराशक्ति ने निर्मित की है। पराशक्ति ने सभी चर-अचर जगत के प्राणियों, वनस्पतियों आदि को अपनी विशेष प्रकृति दी है। आपकी देह को भी उसने निर्मित किया है और प्रत्येक मानव को एक प्रकृति दी है। जिसमें परिवर्तन, रूपान्तरण होते रहते हैं।

हम मानवों की जितनी प्रकृतियाँ हैं, वे उस महामाया की विभिन्न विधाएँ हैं। एक ही परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी प्रकृति होती है। तो प्रकृति के मूल तक पहुँचने के लिए आपको अपनी प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए। **जो अपनी प्रकृति से अनभिज्ञ है, वह पशु है।** आपकी प्रकृति को यह वरदान है, कि आप अपनी प्रकृति से ही उस परमात्मा को पा सकते हैं, क्योंकि सबका मूल वही है। सम्पूर्ण प्रकृति का स्वामी एक ही है, उसके चरणों की सम्मुखता में प्रकृति आपके अनुकूल हो जाएगी, क्योंकि प्रकृति थी ही आपकी अनुकूलता के लिए। **लेकिन जब आप उसके स्वामी के विमुख हुए, तो प्रकृति आपके प्रतिकूल हो गई।** असंख्य प्रकृतियों का स्वामी एक ही है। अपनी प्रकृति के माध्यम से ही आप उससे सम्पर्क कर सकते हैं। सद्गुरु कभी आपकी प्रकृति को बदलने का प्रयास नहीं करता। जब आप उसके सम्मुख होकर स्वीकार करेंगे, कि प्रभु ! मैं जो भी हूँ, आपकी ही वजह से हूँ, **तो आपकी अपनी प्रकृति में दिव्य रूपान्तरण हो जाएगा।** वाल्मीकि डाकू था, लेकिन रामायण का रचनाकार हुआ। विकृति, प्रकृति में नहीं है। लेकिन ईश्वर के विमुख होने से प्रकृति ही विकृति बन जाती है। ईश्वर-सम्मुखता में आपकी प्रत्येक प्रकृति आपको उसकी ओर ले जाएगी। **पराशक्ति या महामाया के विविध स्वरूप ईश्वर की भगवत्ता है।** प्रकृति के

द्वारा प्रकृति के मूल में जाना है। मूल एक ही है **शिव-शक्ति।** महामाया या पराशक्ति का भी सारा क्रियान्वयन पंच-महाभूतों की प्रकृति अथवा माया द्वारा ही होता है। महामाया भी माया द्वारा ही कृपा करती है। वह माया को अनुकूलन का निर्देश देती है और जो पूर्णतः उसकी शरण में आ जाता है, अत्यधिक कृपालु हो, उसे अपने शिव से भी मिला देती है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति अथवा स्वभावानुसार स्वयं के साथ, परिवार, समाज अथवा देश के साथ व्यवहार करता है। जैसे हम प्राणियों की प्रकृति है, उसी प्रकार ईश्वर की भी प्रकृति है। ईश्वर की प्रकृति को ही माया या ईश्वरीय सत्ता कहते हैं, जो पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि, पंच-महाभूतों के रूप में और इनके द्वारा निर्मित जड़-चेतन जगत के रूप में दृष्टिगत होती है। इस प्रकृति की भी अपनी एक प्रकृति है, जैसे अग्नि उर्ध्वगामी है, जल हमेशा नीचे की ओर बहता है। वायु, आकाश, पृथ्वी का भी अपना स्वभाव, गुण व धर्म है। यह ईश्वरीय माया हमें खिलाने के लिए थी। यह माया अथवा ईश्वरीय प्रकृति जलचरों, थलचरों, नभचरों सहित समस्त कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों, चर-अचर जगत को ईश्वर-विमुख होते हुए भी पालती है। परन्तु मानव जब ईश्वर-विमुख होता है, तो उसके प्रतिकूल हो जाती है। इस समस्त पशु-पक्षी जगत का अनुकूलन, माया महतारी की भाँति करती है। उनकी संख्या उचित रहे, इसका ध्यान भी माया रखती है। समुद्रों में जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए अभियान जलचरों द्वारा नहीं चलाए जाते, प्रकृति स्वयं उसका ध्यान रखती है। न जंगलों में परिवार-नियोजन होता है। कोई वहाँ चिकित्सालय नहीं है। सब वहाँ हृष्ट-पुष्ट होते हैं। वहाँ स्वयं ही प्रजनन, पालन व संहार होता रहता है।

मानवेतर जितना भी प्राणी-जगत है, उसका लालन-पालन माँ प्रकृति करती है। मौसम, स्वभावानुसार उनका अनुकूलन, भोजन-व्यवस्था, प्रजनन, पैदा होने पर उनके बच्चों का ध्यान, उनकी मृत्यु के बाद उनकी सफाई आदि की व्यवस्था प्रकृति द्वारा होती है। जंगल का वातावरण स्वतः प्रदूषण-रहित होता रहता है। विचित्र बात यह है, **इस समस्त**

प्राणी-जगत को ईश्वर की कोई धारणा ही नहीं है और न होनी सम्भव है। उनको प्रकृति का भी कोई ज्ञान नहीं है, लेकिन फिर भी माँ प्रकृति उनका पालन करती है। उनसे माँ प्रकृति यह आशा भी नहीं करती, कि ये पशु, पक्षी, कीट, पतंग, प्राणी-जगत उसके स्वामी, ईश्वर को याद करें, उसका गुणगान करें। इस समस्त प्राणी जगत को अपनी प्रकृति का भी ज्ञान नहीं है। इसलिए उन्हें प्रकृति का बाध करने का अधिकार ही नहीं दिया गया। उनके प्रजनन व पैदा होने का एक निश्चित समय है। उनका खाना-पीना भी प्रकृति के अनुसार होता है। समस्त पशु-पक्षी व जानवर रात को निश्चित समय पर सो जाते हैं, सुबह भोर होते ही उठते हैं, कलरव करते हैं। यह नहीं कि मानव की तरह रात देर तक क्लब या सैर-सपाटे में व्यस्त रहने के कारण सुबह देर से उठें। पक्षियों के कलरव से सुबह आप घड़ी का समय मिला सकते हैं, क्योंकि वे अबोध शिशु की नाईं प्रकृति की गोद में बैठे हुए पूर्णतः उस पर आश्रित होते हैं। माँ को अबोध शिशु से इसीलिए बहुत मोह होता है। वह बच्चा माँ की सत्ता को भी नहीं जानता, कि मेरा ध्यान माँ ने रखना है, लेकिन फिर भी माँ उसके स्वास्थ्य, खान-पान सबके विषय में पूर्ण सजग रहती है।

मानव को ईश्वर ने इस समस्त प्राणी-जगत से पृथक् ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि दी है, जिससे ईश्वर की मान्यता तथा उसकी वाह-वाह करना उसके लिए कानूनन आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं करता तो ईश्वर की यह प्रकृति उसके प्रतिकूल हो जाती है, सज़ाएँ देती है। मानव-देह मिलना स्वयं में एक दैवीय घटना है, जिसका एक-एक पल ईश्वर की भगवत्ता या पराशक्ति के अधीन है। हम जानते हैं, कि हमारी देह का समस्त संचालन उसी शक्ति के अधीन है, लेकिन न जाने क्यों **'बुद्धि'** पर हमने अपना अधिपत्य कर लिया और खुद सोचना शुरू कर दिया। न हम अपनी सोच से पैदा हुए न अपनी सोच से इस संसार से जाते हैं, लेकिन जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन में हम स्वयं ठेकेदार बन जाते हैं। **हमने जो किया, वास्तव में वह हुआ। आगे भी जो होना है, वह होगा ही। उसका हमारे करने या न करने से कोई**

सम्बन्ध नहीं है। मैं वह कर रहा हूँ, जो मेरे बिना भी हो सकता है। जिसे मैं अपना कर्तव्य माने बैठा हूँ, वह कार्य मेरे बिना यदि हो सकता है, तो वह मेरा कर्तव्य नहीं हो सकता। मैं न भी पैदा हुआ होता तो भी संसार चलता, मैं जानता हूँ। इसका अर्थ है, कि मैंने व्यर्थ में स्वयं पर कर्तव्य थोपे हुए हैं और मैं भटकता रहता हूँ। स्वयं को महत्त्वपूर्ण मानकर तथाकथित कर्मठ बना रहता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ, कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है। अगले पल क्या होने वाला है, मैं यह भी नहीं जानता। अगला स्वप्न क्या आएगा, यह स्वप्न दिखाने वाला ही जानता है। तो मेरा कर्तव्य क्या है? अवश्य ही कोई तो मेरा कर्तव्य होगा, तभी ईश्वर ने मुझे इस पृथ्वी पर अवतरित किया है। मेरा जन्म क्यों हुआ, क्योंकि मेरा अवश्य ही कोई कर्तव्य है। वस्तुतः **मेरा एकमात्र कर्तव्य यह है, कि मैं देह धारण करके यह अनुभव कर लूँ, कि मेरा कोई कर्तव्य नहीं है।** यदि इसकी मुझे अनुभूति हो जाए तो मैं Duty Free हो जाऊँगा। मैं Duty Free हूँ, यह प्रत्यक्ष अनुभूति कर लूँ, इसीलिए मेरा जन्म हुआ है। तब मैं पितृ-ऋण, देव-ऋण व ऋषि-ऋण सबसे मुक्त हो जाऊँगा। मैं स्वयं में प्रत्यक्ष अनुभूति कर लूँगा, कि सब कुछ स्वप्न-सृष्टि की भाँति स्वतः हो रहा है।

हमारी समस्त प्राप्तियाँ स्थिर हैं, लेकिन पहले हम उनकी प्राप्ति के लिए धक्के खाते हैं, फिर उनकी Maintenance के लिए धक्के खाते हैं। फिर वे चली न जाएँ, इस चिन्ता को दूर करने के लिए धक्के खाते रहते हैं और फिर सब छोड़कर हम मर जाते हैं और अन्त में भस्मी बन जाते हैं। भस्मी परम स्थिर तत्त्व है। **हम स्थिर की ओर क्यों भागते हैं ! क्योंकि हम भी स्थिरता चाहते हैं।** स्थिरता क्या भाग-दौड़ से मिलेगी? हम भाग-दौड़ क्यों करते हैं, क्योंकि ऐसी ही हमें आदत पड़ी हुई है। हम जीवन को उसी रुटीन में ले रहे हैं। हम किसी स्थिर वस्तु को पाकर भी भागते हैं। उसको पाने के लिए भागते हैं और पाकर भी भागते हैं। **भाग-भाग कर पाते हैं, इसलिए भोग नहीं कर पाते।** जितनी भाग-दौड़ है, सब स्थिर की ओर है। अस्थिर, स्थिर की ओर भागता है। क्या हम स्थिर नहीं हो सकते?

मेरा तो स्वरूप ही स्थिर है। अतः मैं स्थिर ही हूँ। स्वप्न में मैं कहाँ-कहाँ भागता रहा, पर जागने पर आश्वस्त हो जाता हूँ, कि जिस बिस्तर पर सोया था, वहीं से उठा हूँ, टस से मस नहीं हुआ। यही माया है। **यदि हमें अपना वह स्वरूप पकड़ में आ जाए, जो स्वप्न देखते समय स्थिर था, तभी समस्या का निदान होगा।** जागृति के उपरान्त ही तो ज्ञात हुआ, कि वह स्वप्न था। स्वप्न में तो मैं धक्के खाता ही रहा। हम बहुत से सुख-दुःख के स्वप्न देखते रहते हैं और जागने पर जान जाते हैं, कि वह कुछ नहीं था। **यदि स्वप्न देखते समय मुझे उस परम स्थिर स्वरूप की अनुभूति हो जाए, कि यह भाग-दौड़-सी है, मैं कहीं आया-गया नहीं हूँ, तो मुझे स्वप्न का आनन्द आ जाता। यह नहीं कि फिर सस्वप्न न आता, वह फिर भी आता, लेकिन स्वप्न में मुझे माया के उस विस्तार का, समस्त खेल का आनन्द आता।** उसमें मुझे कुछ खोने अथवा पाने, दोनों का आनन्द आता, क्योंकि मेरा क्या बिगड़ा अथवा मैंने क्या पाया? इसके लिए प्रथम औपचारिकता है, कि हमें पराशक्ति या भगवत्ता के प्रति नतमस्तक होना परमावश्यक है।

केवल मानव में प्रकृति के बाध की विशेष क्षमता है। शेष समस्त प्रकृति व प्राणी-जगत प्रकृति के ही नियमों में बद्ध हैं। मानव रात को जाग सकता है व दिन में सो सकता है। मानव के प्रजनन का भी कोई निश्चित समय नहीं है। हम खाने-पीने, सोने-जागने, रहने सब में प्रकृति का बाध करते हैं। परमात्मा ने पीने के लिए जल, दूध आदि दिया है। हम कोक, पैप्सी, बीयर, सोडा, शराब न जाने क्या-क्या पीते हैं! ईश्वर-प्रदत्त प्राकृतिक वनस्पतियों, फलों व सब्ज़ियों को अपने स्वाद के लिए न जाने क्या-क्या बना देते हैं! हम अपनी रुचि, आवश्यकता, सामर्थ्य व उपलब्धि के अनुसार प्रकृति में जो चाहे परिवर्तन कर सकते हैं। सर्दी-गर्मी की ऋतु में अपने हिसाब से वातानुकूलन कर सकते हैं। **तो ईश्वर की प्रकृति मानव से बाध भी होती है और ईश्वर-विमुख होकर मनमानी करने पर प्रतिकूल होते हुए विभिन्न सज़ाएँ भी देती है।**

प्रकृति को बाध करने की शक्ति प्रभु ने मानव को इसलिए दी थी, कि मानव इसका प्रयोग करके प्रभु से सम्पर्क कर सकता है। प्रकृति से ऊपर उठकर परा प्राकृतिक या महामाया के क्षेत्र में प्रविष्टि का अधिकारी मात्र मानव ही है। यह प्रतिभा उसे विलासी जीवन व्यतीत करने और पतित होने के लिए नहीं दी थी। भोगी भी रात को जागता है और योगी भी रात को जागता है। **योगी खोकर पाता है और भोगी पाकर खो देता है।** दोनों ही प्रकृति का बाध करते हैं। सत्ता से ऊपर उठकर यदि ईश्वर की भगवत्ता की अनुभूति करनी है तो प्रकृति का बाध करना ही होगा। उस स्थिति में प्रकृति प्रतिकूल नहीं होती, बल्कि सहायक होती है।

एक तो ईश्वर-विमुख होकर दैहिक सुखों के लिए प्रकृति का बाध किया, तो प्रकृति प्रतिकूल हुई। तब हम न तो देह, न किसी पदार्थ का भोग कर सके। ये जितनी वैज्ञानिक प्रगति हो रही है, इसमें हम प्रकृति से दूर ही होते जा रहे हैं और प्रकृति हमारे प्रतिकूल हो रही है। इसकी 84 लाख विभिन्न विधाएँ हैं, जिनमें यह मानव को पशुवत् जीवन यापन करने को विवश कर देती है। दूसरे ईश्वर के सम्मुख होने के लिए योगी प्रकृति का बाध करता है, वहाँ प्रकृति सहायक होती है। महामाया 108 स्वरूपों में भक्त की आवश्यकता, श्रद्धा व सामर्थ्यानुसार सहायक होती है।

प्रकृति का बाध करने की शक्ति, जो मानव को ईश्वर ने दी उसमें प्रभु का एक महा रहस्य था। मानवेतर कोई भी प्राणी उस तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता, जिसे परातत्त्व या तत्त्वातीत तत्त्व कहते हैं। मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणी जगत पंच-महाभूतों द्वारा निर्मित, पालित व संहारित प्रकृति के अधीन है, इन्हीं में लीन हो जाता है। इसका बाध नहीं कर सकता। जहाँ प्रकृति विलीन हो जाती है, वहाँ अवशेष रहता है **महाशेष—भस्मी,** जो तत्त्वातीत है। भस्मी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश से परे परा प्राकृतिक तत्त्व है। उस महाशेष तक मात्र मानव ही सम्पर्क कर सकता है। **यही प्रकृति के बाध के नेपथ्य में ईश्वर का रहस्य है तथा मानव को प्रकृति के बाध की यह प्रतिभा दी ही इसलिए गई थी।**

उस महाशेष या भस्मी का वास्तविक मूल्यांकन करना है, तो जीते जी जीवन-काल में उसे धारण करना होगा, जिसके लिए प्रकृति का बाध करना होगा। जीते जी मरने की अवधारणा करना, आत्महत्या करके नहीं बल्कि, यह धारणा करनी है, कि मानों मैं मर गया हूँ, मेरी देह भस्मी में परिवर्तित हो गई है। **यह अवधारणा स्वयं में प्रकृति का बाध है, क्योंकि देह के रहते आप देह को भस्मी स्वरूप दे रहे हैं। यह प्राकृतिक रुटीन नहीं है। यदि हम Root यानि जड़ में पहुँचना चाहते हैं, तो हमें पाँचों महातत्त्वों का बाध करना होगा।** मानव-देह पाँच महातत्त्वों के रूप में प्रकृति द्वारा निर्मित है, लेकिन ईश्वर अथवा पराशक्ति द्वारा संचालित है। हम इस देह के लालन-पालन, पोषण व सुख के लिए व्यस्त रहते हैं। प्रकृति का बाध करने की प्रतिभा का दुरुपयोग इसी के लिए करते रहते हैं, तो प्रकृति ही विकराल होकर हमें सज़ाएँ देती है और हम प्रकृति से बाहर आ ही नहीं पाते।

प्रभु ने यह तकनीक हमें दी है, कि तेरा स्वरूप परम स्थिर है व देहातीत है। उसकी अनुभूति के लिए तू अपनी देह के भौतिक स्थिर स्वरूप को पकड़ ले। इस देह का एक परम स्थिर स्वरूप है, देह का निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य–**'भस्मी'।** जन्म हो गया और मृत्यु अवश्य होगी। जो होगा ही उसके लिए कल्पना कर लो कि हो गया। वहीं से आपकी स्थिरता शुरू हो जाएगी। **यह माया या प्रकृति का बाध है, जिसमें प्रविष्टि मात्र मानव के लिए सम्भव है।** मात्र मानव को ईश्वर ने वह विधा दी है, कि वह जीते जी अपनी देह का वह स्थिर स्वरूप पकड़े, जहाँ पहुँचने पर वह विदेह हो जाए। प्रकृति व माया का बाध करके **प्रकृत्यातीत व मायातीत** हो जाए।

ईश्वर मायातीत है। जीवात्मा भी माया से परे मायातीत है क्योंकि उसी का अंश है। लेकिन पंच-महाभूतों की देह से बँध कर वह माया में बँध जाता है और जीव बन जाता है। इसका बाध करे बिना वह अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। **जीवात्मा माया से बँधा नहीं है। माया इससे बँधी**

है। यह तब मालूम चलेगा, जब वह भस्मी रूप इस तत्त्वातीत तत्त्व को जीते जी धारण कर लेगा। मृत्यु के बाद की भस्मी जड़ है परन्तु उसे जीते जी अवधारणा में लाते ही वह भस्मी चेतन हो, इसमें वैराग जगा देती है। **तब आप प्रकृत्यातीत हो जाएँगे। पाँचों महाभूतों के कोई कानून आप पर लागू नहीं होंगे।**

वह तत्त्वातीत तत्त्व, महाविशेष तत्त्व है, जो आपका ही है, आपकी देह की भस्मी है, लेकिन भस्मी की कोई देह विशेष नहीं है। भस्मी किसी नाम-रूप की देह को नहीं पहचानती। जीते जी जीवन-काल में उस तत्त्व की अवधारणा से, जीव अपने जीवात्मा-स्वरूप में प्रविष्टि पा जाता है। इस पंच-भौतिक शरीर को **'मैं'** मानने के कारण ही जीवात्मा से जीव बन गया था।

मेरी देह की एक देहातीत स्थिति भस्मी ही है, जिसका अतीत मेरी देह नहीं है। मेरा भविष्य भस्मी है, जिसका अतीत **'मैं'** नहीं हूँ। भस्मी का कोई भविष्य नहीं है और जिसका कोई भविष्य नहीं होता उसका अतीत भी नहीं होता, वह अकाल है। हम काल से बँधे हैं। हमारी देह की केवल एक ही विधा व स्थिति ऐसी है, जो कालातीत है। इसका इष्ट-कृपा से सदुपयोग हो सकता है। इसके बिना जितना चाहे जप-तप आदि कर लें, हम मायाजाल से बाहर नहीं आ सकते।

देह के होते हुए जीते जी उस देहातीत भविष्य की अवधारणा स्वयं में प्रकृति का बाध है। माया के बाहर आने के लिए प्रकृति का बाध भी प्राकृतिक रूप से करना होगा, तभी यह मायिक देह सहायक होगी। **यदि देह का दमन कर विभिन्न कष्ट-प्रद दैहिक प्रकरणों जप-तप, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा आदि द्वारा हम माया या प्रकृति का बाध करेंगे, तो तात्कालिक कुछ सिद्धियाँ मिल सकती हैं, लेकिन अन्ततः यह समस्त प्रकृति का संघनित रूप देह ही विकराल होकर इन्द्रिय लोलुपता में भटका कर अधोगति की ओर ले जाती है।** प्रकृति ही आपका संतुलन अस्त-व्यस्त कर देगी। आप में अहं जाग्रत हो जाएगा। काम को वश में किया तो क्रोध बढ़ गया, लोभ को

वश में किया तो मोह हो गया। इस रूप में प्रकृति का बाध करने से अन्ततः जीव का पतन ही होता है। **अतः प्रकृति का बाध करने के लिए भी प्रकृति की शरण में जाना होगा। प्रकृति ही, प्रकृति का बाध कराएगी।** हम सबमें भविष्य में विचरने की ईश्वर-प्रदत्त अद्‌भुत प्रतिभा व क्षमता है। यह हम मानवों की प्रकृति है। **जीवन में जिन भविष्यों में हम विचरते हैं, उनकी कल्पना करते हैं, क्योंकि हर भविष्य अनिश्चित है।** देह का एक ही ऐसा भविष्य है, जो सुनिश्चित है। इसलिए हम उसकी अवधारणा कर सकते हैं, कि मानों 'मैं भस्मी बन गया हूँ।' जब अनिश्चित भविष्यों को निश्चित मानकर अज्ञातरूप से वर्तमान में ढो सकते हैं, तो इस सुनिश्चित भविष्य को वर्तमान में ज्ञात रूप से क्यों नहीं ढो सकते? **यह 'नैचुरल' तरीके से प्रकृति का बाध होगा। यहाँ प्रकृति ही सहायक होगी।** सद्‌गुरु-कृपा से यह अवधारणा जब परिपक्व हो जाएगी तो देह होगी, लेकिन वह मेरी नहीं होगी, वह ईश्वरीय होगी। तभी हमें महामाया या पराशक्ति का सान्निध्य प्राप्त होगा। ईश्वरीय समस्त सत्ता, महामाया अथवा पराशक्ति के अधीन है और प्रकृति का कोई कानून इस पराशक्ति पर लागू नहीं होता। पराशक्ति चमत्कारिक शक्ति है, यह न किसी कायदे कानून में बँधती है, न किसी को बँधने देती है। कायदे-कानून में बँध कर यन्त्र या तन्त्र द्वारा यदि आप महामाया का सान्निध्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो महामाया ही आपके लिए घातक हो जाएगी।

जब आप प्रभु से प्रार्थना करते हैं, कि हे प्रभु! मुझे बल-बुद्धि-विद्या हीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धन हीन कर दो, तो यह आपका भस्मी स्वरूप ही है। भस्मी का न तन है, न मन है, न धन है, न बल है, न बुद्धि है, न विद्या है, न समर्थ, न शक्ति। **प्रत्येक तप का प्रतिफलन अन्ततः इस मानसिक स्थिति में होता है, जब आपको इसकी अनुभूति हो जाए, तो उसके समक्ष तप के समस्त प्रकरण फीके पड़ जाते हैं।** परन्तु यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है। यह प्रार्थना करते-करते जब महामाया या पराशक्ति की कृपा से प्रार्थना स्वीकार हो जाती है, तो आप भस्मीमय हो जाते हैं और

प्रभु स्वयं अपनी बुद्धि, बल, विद्या, शक्ति, समर्थ तथा तन-मन-धन से आपका शेष जीवन चलाते हैं। फिर आप होते हैं, लेकिन आपकी शक्तियाँ, सामर्थ्य (जिसे पहले आपने अपना माना हुआ था, इसलिए सीमित हो गई थीं), सब कुछ प्रभु की असीम शक्तियों में समाहित हो जाता है। **आप होते हैं, लेकिन स्वयं में बल-बुद्धि-विद्या हीन, असमर्थ व अशक्त हो जाते हैं और तथाकथित आपका तन, मन, धन सब प्रभु का ही हो जाता है।**

जब आप बल-बुद्धि-विद्या हीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन व धन हीन होने की प्रार्थना करते हैं, तो ईश्वर की यह सत्ता, प्रकृति या माया बीच से हट जाती है। आपका सीधा प्रभु की भगवत्ता से सम्पर्क हो जाता है। क्योंकि आप तन-मन-धन हीन होकर, असमर्थ, अशक्त होकर, बल-बुद्धि व विद्या हीन होकर जीना चाहते हैं। तन-मन-धन, शक्ति, समर्थ, बल, बुद्धि, विद्या हो, लेकिन सब कुछ प्रभु का हो। तब ईश्वर की माया ही आपको महामाया से जोड़ देती है। वहाँ पर प्रभु की छठी **विभूत्यातीत विभूति वैराग जाग्रत हो जाता है और समस्त ईश्वरीय प्रकृति आपके चरणों में आ जाती है। जो जीते हैं वे मरते हैं, लेकिन जो जीते जी मरते हैं, वे ही वास्तव में जीते हैं।** पशु भी जीते हैं और मर जाते हैं, यह प्राकृतिक है। यदि हम मानव भी जीने के बाद मरने लगें तो, हममें और उन पशुओं में क्या अन्तर होगा! हम मानवों को मिली प्रकृति का बाध करने की प्रतिभा का हमने सदुपयोग क्या किया?

जन्म और मृत्यु दोनों ही काल्पनिक मान्यताएँ हैं। न किसी ने अपना स्वयं का जन्म देखा है और न ही अपनी मृत्यु देख सकता है। लेकिन फिर जब हमने जन्म को माना है, तो मृत्यु को भी मानना पड़ता है। यद्यपि **'नैचुरली'** हमने अपना पैदा होना नहीं देखा, लेकिन फिर भी **'नैचुरली'** अपना जन्म मान लिया, कि मैं पैदा हुआ हूँ। तो इसी तरह **'नैचुरली'** मान लीजिए, कि मैं मर गया हूँ। स्वयं को मरते हुए आज तक न किसी ने देखा है और न देख सकता है, लेकिन फिर भी जन्म-मृत्यु को माना है। तो जीते जी यह मानना, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ' प्राकृतिक रूप से

प्रकृति का बाध हुआ। इस प्रकार प्रकृति ही हमारी सहायक हो जाएगी और आप माया से परे परा प्राकृतिक, पराशक्ति या महामाया के क्षेत्र में प्रविष्टि पा लेंगे। **प्रकृति से, प्रकृति के ज़रिए, प्रकृति की सहायता से ही आप परा प्राकृतिक क्षेत्र में आकर प्रकृति से परे हो जाएँगे।** प्रकृति का बाध प्राकृतिक रूप से होने की यह सरस-साधना है। **जीना और फिर मर जाना तथा भस्मी बन जाना 'नैचुरल' है, अतः हम इस प्रकृति का बाध करते हुए जीते जी मरने और भस्मी बनने की अवधारणा कर लें, तो वास्तविक व यथार्थ मानव-जीवन में प्रविष्टि पा लेंगे।** उसके बाद जो जीवन होगा, वह अविरल, अजर, अमर सच्चिदानंद होगा। आपकी देह होगी, लेकिन वह देहातीत होगी, जो काल में होते हुए भी अकाल-काल में विचरण करेगी।

आप घड़ी बाँधेंगे, घड़ी आपको नहीं बाँधेगी। आपके सब सम्बन्ध सम्बन्धातीत होंगे। आपकी उस देहातीत देह की मृत्यु भी नहीं होगी क्योंकि उसका जन्म ही नहीं हुआ। वह तो अविरल सच्चिदानंद है। क्योंकि अब प्रभु अपनी बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति व तन, मन, धन से आपका जीवन चला रहे हैं। आपका धर्म, धर्मातीत होगा, कर्म व कर्तव्य, कर्मातीत व कर्तव्यातीत होंगे, आप लिंगातीत लिंग में विचरण करेंगे। आप अपना स्वयं का सब कुछ खो देते हैं। नाम-रूप की पंच-तत्त्वों में बँधी देह से **स्वयं को पहचानकर आप स्वयं खो गए थे। जब यह भाव ही खो जाएगा, कि 'मैं देह हूँ 'तो आप स्वयं को पा जाएँगे। अपनी बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति, तन, मन व धन से आप जन्मों-जन्मान्तरों में हाय-हाय करते हुए विभिन्न आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप आवरण में घिरे हुए भटकते रहे। अब आप प्रभु की बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति व तन, मन, धन की वाह-वाह करेंगे, जीवन का आनन्द लेंगे तथा तमाशा देखेंगे। पहले आप कर रहे थे, अब आपके द्वारा सब कुछ स्वतः होता रहता है। फिर यह प्रकृति ही आपकी चेरी हो जाती है। आप अपनी अनुभूतियों का यथार्थ देह में सदुपयोग करेंगे।**

इस प्रकार प्राकृतिक रूप से प्रकृति का बाध करते हुए सद्‌गुरु-कृपा से जीते जी अवधारणा करनी होगी, कि **'मैं भस्मी बन गया हूँ'** और उस स्थिति में प्रविष्ट हो जाओ। **जब आप उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि पा लेंगे तो 'नैचुरली' जो विचार आएँगे, वे शास्त्र, वेद-पुराण, स्मृतियों, उपनिषदों आदि का सार-तत्त्व ही होगा। वे विचार आपकी बुद्धि के नहीं होंगे, बल्कि परा प्राकृतिक मेधा, विवेक, प्रज्ञा व ऋतम्भरा आदि दिव्य बुद्धियों के विचार होंगे। प्रकृति का प्रकृति से बाध करने पर समस्त विचार-श्रंखला ईश्वरीय हो जाएगी। ईश्वरीय विचार ही शास्त्र, वेद, पुराण व उपनिषद् आदि हैं।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(4 से 14 अक्टूबर, 2005)

पराशक्ति

(भाग – 2)

मानव-देह मिलना एक दैवीय घटना व चमत्कार है। हम सब निस्सन्देह अति सौभाग्यशाली हैं। मानव-देह धारण करके यह प्रश्न हमारे मन-मस्तिष्क व रूह में पैदा होना अति आवश्यक है, कि 'मैं पैदा क्यों हुआ हूँ' और मुझे ईश्वर ने मानव-देह क्यों दी है? वह चाहता तो मुझे नाली का कीड़ा, कोई पशु-पक्षी अथवा कीट बना सकता था, क्योंकि ये जलचर, थलचर, नभचर सब उसी ने तो बनाए हैं। अतः मैं मानव-देह धारण करके पृथ्वी पर क्यों लाया गया हूँ? यदि मैं जीवन के अन्त तक यह नहीं जान पाता तो, मेरा यहाँ लाया जाना निरर्थक ही हुआ। इसलिए हम सभी अति निरर्थक व नकारात्मक जीवन घसीट रहे हैं, सार्थक जीवन नहीं जी रहे हैं।

मैंने अपने पिछले कुछ प्रवचनों में स्पष्ट इंगित किया है, कि जन्म और मृत्यु दोनों ही कल्पनाएँ हैं, क्योंकि आज तक किसी ने अपना स्वयं का जन्म व मृत्यु न देखी है, न भविष्य में किसी भी प्रकार देख पाने की सम्भावना ही है। अतः जिस जीवन का प्रारम्भ और अन्त दोनों कल्पनाएँ हैं, तो उसका मध्य भी कल्पना ही होगा। हम इसी काल्पनिक जीवन में कलपते रहते हैं। जबकि हमें वह मानव-देह मिली है, जो मात्र हाड़-माँस का पुतला नहीं है, बल्कि ईश्वर की सर्वोत्तम और परम उत्कृष्ट रचना है। किसी योगी से पूछो इस मानव-देह का महत्त्व। क्योंकि उसने चौदह भुवन, समस्त लोक-लोकान्तर व युग-युगान्तर, स्वर्ग से लेकर अपवर्ग और नरक से लेकर रौरव

नरक तक, ब्रह्म-लोक, विष्णु-लोक, शिव-लोक, सूर्य-चन्द्र व तारागणों आदि सहित समस्त आकाश-मण्डल, भूलोक व पृथ्वी के सातों तल, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की धातुएँ-अधातुएँ, रंग, डिज़ाइन व आकृतियाँ, जल-मण्डल, सागर में छिपे विभिन्न रत्न तथा चौरासी लाख पशु-योनियाँ आदि-आदि अपनी इसी मानव-देह में देखी हैं। मानव-मन सच्चिदानंद ईश्वर के **'आनन्द'** का स्रोत है, मानव-बुद्धि ईश्वरीय **'चेतना'** की मूल है तथा दोनों के पारस्परिक सामंजस्य से देह व इन्द्रियों द्वारा प्रकट होने वाले समस्त कृत्य ईश्वरीय **'सद्'** के द्योतक हैं। प्रश्न उठता है, कि जो मानव-देह सद्, चेतन व आनन्द की त्रिवेणी है, प्रयागराज व महातीर्थ है, उसे हमने काल्पनिक कैसे घोषित कर दिया? वास्तव में यह काल्पनिक थी ही नहीं, हमने स्वयं का जन्म और मृत्यु नहीं देखी और किसी ने भी न देखी है, न देख पाने की सम्भावना है। लेकिन फिर भी हम कहते हैं, कि मैं पैदा हुआ हूँ, मैं मरूँगा। हमने स्वयं इस ईश्वरीय महाकृति को जन्म और मृत्यु की दो कल्पनाओं में बाँध लिया और खुदा की सन्तान, बन्दा बन गई।

हमने इस देह व देह पर आधारित समस्त जगत पर अनधिकृत कब्ज़ा कर लिया। जो हमारा नहीं था, उसे हमने गैरकानूनी तौर पर हथिया लिया। हम जानते हैं, कि हमारा हृदय, फेफड़े, किडनी आदि समस्त दैहिक अंग, कोई शक्ति है, जो चला रही है। हमारी रक्तवाहिनी धमनियों, शिराओं में रक्त स्वतः बह रहा है। तो हृदय, किडनी, फेफड़े आदि हम नहीं चला रहे, तो बुद्धि हम क्यों चला रहे हैं। जब देह के सभी अंग ईश्वर चला रहा है, तो बुद्धि के साथ उसकी शत्रुता थी, कि वह इसे नहीं चलाता और हमें सोचना पड़ता है! हम बहुत बुद्धिजीवी हैं और सब कुछ सोच कर करते हैं। यह तो सोचें कि क्या मैं पैदा अपनी बुद्धि से सोचकर हुआ हूँ या मृत्यु मेरे सोचने से होगी? मानव को ईश्वर ने अपनी चेतना के रूप में जो बुद्धि दी थी, उस बुद्धि पर भी हमने अधिपत्य कर लिया। इसी बुद्धि से सोचिए, कि क्या आज तक जो कुछ भी हुआ, वह आपके सोचने से हुआ? मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में पुनरावृत्ति करता हूँ,

कि न हम स्वयं सोचकर पैदा हुए, न हमारी सोच से हमारी देह, माँ-बाप, परिवार, सन्तान, समाज, देश-काल तथा सब कुछ बना। न हमारी सोच, देह व जीवन को चला रही है और न ही हमारी सोच से इसकी मृत्यु तथा क्रिया-कर्म आदि होगा। लेकिन फिर भी हमने बुद्धि पर कब्ज़ा कर लिया, कि मैं सुपर जीनियस हूँ। जबकि बुद्धि मानव को उस परमात्मा ने यह सोचने के लिए दी थी कि 'तू सोच, मैं तुझसे क्या सुचवा रहा हूँ'।

हम जो कर रहे हैं, वह वास्तव में हो रहा है। हम न भी करते, यदि वह होना होता तो अवश्य होता। जो आज तक भी हमने किया, वह होना ही था। जो होगा, यदि वह होना होगा, तो होगा। किसी की यहाँ आवश्यकता नहीं है। एक महाशक्ति के अधीन सब कुछ हो रहा है। आज का विषय **'पराशक्ति'** है, जिसकी मैं अभी भूमिका बना रहा हूँ। **तीन मुख्य पराशक्तियाँ हैं—महासरस्वती, महालक्ष्मी, माँ दुर्गा (पार्वती)।** मानव-देह पंच-महाभूतों की प्रकृति में निर्मित है, जिसका सम्पूर्ण नियन्त्रण इन पराशक्तियों के अधीन है। लेकिन फिर भी हम जीवन के स्वयंभू लीडर बने हुए हैं, कि मैं बड़ा अनुशासित हूँ। बड़ी उत्तम 'लाइफ लीड' कर रहा हूँ। यदि कोई लीडर हो तो उसे, कहाँ से चलना प्रारम्भ करना है, कौन सा रास्ता लेना है, मार्ग में आने वाली बाधाएँ, उनका हल तथा गन्तव्य व लक्ष्य क्या है, इसका ज्ञान होना परमावश्यक है। जिस जीवन के प्रारम्भ (जन्म) और अन्त (मृत्यु) के विषय में हम कुछ नहीं जानते, वहाँ मध्य में हम लीडर कैसे बन गए? जबकि सत्य यह है, कि कोई शक्ति है, जो हमारा नेतृत्व कर रही है। जीवन का एक-एक श्वास, एक-एक विधा ईश्वर ने अपने हाथों में रखी हुई है। हमारा कोई छोटे से छोटा कृत्य भी व्यक्तिगत नहीं है। **प्रभु हमारे हाथों से वह करवा लेते हैं, जो हमारे हाथों में नहीं है।** तो जो हमारे द्वारा हो जाए या न भी हो, उसकी हम वाह-वाह करें। इसी कर्म का अधिकार भगवान ने हमें दिया है। जो खो गया या जो पा लिया, सबकी वाह-वाह करें, क्योंकि यदि वाह-वाह नहीं करेंगे तो हाय-हाय करेंगे। इससे अच्छा है, कि वाह-वाह ही करें।

ईश्वरीय कृत्यों में कार्य के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में आनन्द ही आनन्द होता है। जब हम ईश्वर-विमुख होकर अपने स्वार्थवश या इन्द्रियों के सुखों से प्रेरित होकर स्वयं कुछ करते हैं, उन कार्यों में तीनों आनन्द हो ही नहीं सकते। एक कार्य हम स्वयं तनावित होकर करते हैं और एक कार्य ईश्वर द्वारा किया जा रहा है, दोनों में कोई समानता हो ही नहीं सकती। '***कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली***' जब हम स्वयं करते हैं, तो हम ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए 'कर-कर-कर' करते रहते हैं। मैं यह नहीं **'कर' सका,** उसने इतना **'कर'** लिया, अब मैं भी सब **'कर'** के दिखाऊँगा। **जीवन के दो आयाम हैं—एक आयाम है कर-कर-कर और दूसरा आयाम है हर-हर-हर। जब हम उस देवाधिदेव महादेव के चरणों से जुड़े रहते हैं, तो कर-कर वाला भाव समाप्त हो जाता है। हमें अनुभूति हो जाती है, कि सब कुछ हो ही रहा है। हमारे मुख से हर-हर स्वतः ही उच्चरित होता रहता है और हम हर्षित व आनन्दित रहते हैं। विभिन्न कृत्य भी हमारे द्वारा होते रहते हैं और स्वतः होते हैं तथा मुख से वाह-वाह होती रहती है।** लेकिन जब हम स्वयं करते हैं तो अनावश्यक रूप से व्यस्त व तनावित रहते हैं। ईश्वर का ध्यान, सिमरन करने का समय ही नहीं मिलता। यह ईश्वरीय विमुखता, ईश्वर की प्रकृति सहन नहीं करती और प्रतिकूल होकर हमें विभिन्न प्रकार की सज़ाएँ देती है। जिसे हम पराशक्ति कहते हैं, उस ईश्वरीय शक्ति से हम पराए हो जाते हैं, यद्यपि वह शक्ति हमारे लिए ही थी। इसलिए कर-कर करते हुए जीवन-पर्यन्त **'कर'** देते रहते हैं, लेकिन जो महाशक्ति से जुड़े रहते हैं, उन्हें बिना स्वयं कुछ किए ही Refund आता रहता है।

समस्त पशु जगत ईश्वर-विमुख है, जिसे न कभी ईश्वर की धारणा थी और न ही भविष्य में हो सकती है। ईश्वरीय प्रकृति उनका लालन-पालन करती है। परन्तु **ईश्वर-विमुख होने पर यह प्रकृति मानव के प्रतिकूल हो जाती है, क्योंकि हम पशु नहीं हैं, मानव हैं।** मानव-देह धारण करके आप ईश्वर के विमुख नहीं हो सकते। यदि होंगे तो सज़ाएँ मिलेंगी।

पशु जगत को समस्त सुविधाएँ मिलीं मात्र एक अधिकार से वंचित कर दिया, कि वह ईश्वर की वाह-वाह नहीं कर सकता। मानव होकर यदि हम उसकी वाह-वाह करना, प्रशंसा करना छोड़ देंगे, तो हमारा वही परिणाम होगा जो आजकल बहुत पढ़े-लिखे उच्च डिग्री प्राप्त लोगों का होता है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों द्वारा वे खरीद लिए जाते हैं। उन्हें अपने, अपने परिवार, समाज अथवा देश के बारे में सोचने का ही समय नहीं होता। केवल वह कार्यभार जो उन पर लाद दिया जाता है, उसके अतिरिक्त वे कुछ सोचने के काबिल नहीं रहते। वे पशुओं की भाँति ही जीते हैं। पशु बोझ ढोकर तनावित नहीं होता, मानव तनावित रहता है। **मानव-देह में ही अथवा अन्यथा ये अघोषित या घोषित पशु हो जाते हैं।**

हमारे स्थूल व सूक्ष्म जगत के समस्त तनाव, कष्ट, भय, त्रास, विक्षेप, रोग, दोष, आधि, व्याधि, उपाधि, चिन्ताएँ आदि ईश्वर-विमुख होने से प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण होते हैं। मानव-देह धारण करके आप ईश्वर-विमुख नहीं हो सकते। आपको पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि का कोई टैक्स नहीं देना पड़ता। आप इन्हें न केवल उपयोग करते हैं, बल्कि दुरुपयोग करके प्रदूषित भी करते हैं, तो प्रकृति आपके प्रतिकूल क्यों नहीं होगी? मानव की सुकृतियाँ भी विकृतियाँ बन जाती हैं। गुण, अवगुण हो जाते हैं। स्वस्थ, अस्वस्थ हो जाता है, शान्ति, अशान्ति तथा आशा, निराशा में बदल जाती है। जीवन दुष्कर व दूभर हो जाता है। **अतः ईश्वर-विमुख होने पर सभी दृश्य आँखों के, नाद कानों के, स्पर्श त्वचा के, गन्ध नाक के और समस्त स्वाद जिह्वा के प्रतिकूल हो जाते हैं।** इस प्रकार माया ही माया के प्रतिकूल हो जाती है। यह प्रक्रिया ईश्वर की प्रकृति में शनैः शनैः हो, एकदम हो, कालान्तर में हो, पर होगी अवश्य। क्योंकि हमारी देह भी उसी प्रकृति का भाग है।

ईश्वर की भगवत्ता व स्वरूप का नाम-रूप में जो प्राकट्य होता है, उसका नाम है—**महामाया अथवा पराशक्ति**। पंच-महाभूतों वाली ईश्वरीय प्रकृति, माया है। जो पंच-प्राण-पुंज सच्चिदानंद ईश्वर की छाया है। दूसरा

है, स्वयं ईश्वर अथवा ईश्वरीय शक्ति अथवा भगवत्ता। उसका विभिन्न नाम-रूपों में प्राकट्य पंच-भौतिक रूपों में नहीं होता। लेकिन हम देहधारियों को ऐसा प्रतीत होता है, कि मानों वे भी देह धारण करके पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। हमें पंच-महाभूतों की वे इसलिए लगती हैं, क्योंकि हम उन्हें अपनी दृष्टि से देखना चाहते हैं। **हम स्वयं माया से इतने ओत-प्रोत हैं, कि हम उस मायातीत-देह को भी माया में मान लेते हैं।** जैसेकि गोपियों ने कृष्ण की देह का स्पर्श किया, उसके साथ रास लीला की, नृत्य किया। भगवान श्रीकृष्ण ने तो उनका स्पर्श तक नहीं किया। गोपियाँ श्रीकृष्ण की साकार-देह का अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सुख लेते हुए, स्वयं देहातीत हो गईं। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं देहातीत, यथार्थ-देह में थे। **यथार्थ-देह एक ही है, पंच-महाभूतों की जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक-देह अनेक हैं।**

महामाया का प्राकट्य अनेक रूपों में होता है महालक्ष्मी, महासरस्वती और माँ दुर्गा, पार्वती। तीनों के 108 – 108 रूप हैं। **वह एक शक्ति अपने भक्तों की आवश्यकता, उपलब्धि व समर्थानुसार अनेक रूपों में प्रकट होती है।** शक्ति मूलतः देवाधिदेव महादेव सदाशिव की ही है। शिव की भाँति ही निराकार है, शिव में समाहित है। वह शिव से विलग नहीं है। वही महामाया विभिन्न नाम-रूपों में, पराशक्ति के रूप में प्रकट होती है। मानों भगवत्ता ही रूप धारण करती है। यह जो रूप धारण करती है, इसके पीछे कुछ विशिष्ट कारण होने आवश्यक हैं। **जो उसको मानते हैं, ध्याते हैं, उनको देह व समस्त ईश्वरीय सत्ता का सुख मिल जाता है। लेकिन जो पूर्णतः उसके शरणागत हो जाते हैं और श्रद्धापूर्वक अपना सर्वस्व उसको समर्पित कर देते हैं, वहाँ पर भगवत्ता या पराशक्ति का प्राकट्य हो जाता है :-**

''देहि मे सौभाग्यं, आरोग्यं देहि मे परमं सुखं,
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि।''

ईश्वर **सामान्य** और **विशिष्ट** दोनों रूपों में क्रीड़ा करना चाहता है। जैसेकि एक तो टीम है, जिसमें अनेक खिलाड़ी होते हैं। दूसरा, उन सबका

नेतृत्व करने वाला उनका कप्तान होता है। एक, विभिन्न प्रकार के पुष्प हैं, एक गुलाब है जो उनका राजा है। नदियाँ अनेक हैं और **परम पावन 'गंगा-नदी'** एक है। विभिन्न नक्षत्र हैं और एक नक्षत्रेश्वर है। विभिन्न पहाड़ हैं और एक पर्वतराज हिमालय है। नदियाँ ईश्वर का सामान्य रूप हैं, जो उसकी सत्ता का अंग हैं, माया है। गंगा-नदी उसकी भगवत्ता या उसकी शक्ति का प्रकाट्य है। **गंगा पराशक्ति है, महामाया है। ईश्वर की स्वयं की शक्ति या भगवत्ता का प्रकाट्य महामाया के रूप में होता है।** समस्त ऋतुएँ उसकी प्रकृति या सत्ता का प्रकाट्य है और वसन्त ऋतु उसकी भगवत्ता का पराशक्ति-रूप में प्रकाट्य है। राजा को ईश्वर-अंश कहा जाता है। इसका अर्थ यह तो नहीं, कि प्रजा ईश्वर का अंश नहीं है। **जो चेतना एक पंच-भौतिक देह में राजा बनकर खेलती है, वही अन्य प्रजाजनों या नागरिकों में प्रजा बनकर खेलती है। प्रजा ईश्वरीय सत्ता का प्रकाट्य है और राजा उसकी भगवत्ता का प्रकाट्य है।** राजा पाप-पुण्य से रहित होता है, जो उसने किया मानों ईश्वर ने किया।

उस भगवत्ता, महासत्ता, महामाया अथवा पराशक्ति पर प्रकृति के नियम लागू नहीं होते। आज, विश्व में प्रथम बार, इष्ट-कृपा से जो अनुभूति हुई है, हम उसके आधार पर वर्णन कर रहे हैं, कि **भगवान की भगवत्ता उसका सच्चिदानंद स्वरूप है और उसकी सत्ता उसकी प्रकृति है, जो उसकी छाया है। भगवत्ता को ही महामाया या पराशक्ति तथा प्रकृति को माया व शक्ति के नाम से पुकारा जाता है। दोनों ही माया में हैं। उसकी प्रकृति या सत्ता भगवत्ता के अधीन है। वह भगवत्ता या महामाया भी नाम-रूप धारण करती है।**

मेरे सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर की शक्ति भी रूप-धारण करती है। देखने में वह भी पंच-भौतिक अन्य प्राकृतिक उपादानों की भाँति प्रतीत होती है, लेकिन वस्तुतः वह पंच-महाभूतों से परे यथार्थ-देह का अंग होती है। **भगवान की भगवत्ता का प्रकाट्य महामाया के विभिन्न रूपों में अपने भक्तों को प्रसन्न करने, उन्हें मनोवांछित फल देने के लिए होता है।**

वहाँ कोई नियम, कानून लागू नहीं होता, वहाँ प्रारब्ध, भाग्य व तथाकथित कर्मों-धर्मों का लेखा-जोखा नहीं देखा जाता। उस पराशक्ति का प्रादुर्भाव तब होता है, जब ईश्वर प्रसन्न होता है। वह पराशक्ति प्रकृति को आपके अनुकूल करती है, चाहे आपके प्रारब्ध में हो, न हो। जितने **उस पराशक्ति के विभिन्न रूप हैं, वे अपने भक्तों के विशिष्ट कार्य सम्पादन करने के लिए, उन्हें विशेष प्राथमिकता देते हुए उनकी आवश्यकता व समर्थानुसार प्रकट होते हैं।** भगवान श्रीराम ने भी रावण को मारने के लिए माँ महामाया की उपासना की, कि माँ मुझे तेरी शक्ति अपेक्षित है।

जीवन जीने का एक सामान्य स्तर व शैली है, जैसेकि हम सब पैदा हुए हैं और जब हमें यहाँ लाने वाला चाहेगा, हम दुनिया छोड़ देंगे। पैदा हुए हैं और कुछ न कुछ करके जो एकत्रित किया है या खोया है सब कुछ यहीं छोड़ जाएँगे। फिर जन्म होगा, फिर मिट्‌टी या राख बनेगी। यह साधारण जीवन है, जो केवल मात्रात्मक होता है, लेकिन **असाधारण जीवन गुणात्मक होता है।**

प्रश्न उठता है, कि गुणात्मक जीवन की परिभाषा व लक्षण क्या हैं? पाश्चात्य विचारधारा के आधार पर यदि हम सोचें तो कहेंगे, कि हमारा रंग, रूप, आकार, वेषभूषा, दैहिक शक्ति सबसे अच्छी हो। हमारा परिवार, बाल-बच्चे सुन्दर व गुणवान हों, हमारा आर्थिक स्तर व जीवन-शैली उच्च हो, धन, घर व सम्पदा आदि से हम सबसे अधिक सम्पन्न हों। समाज व देश में हमारा नाम हो, आदि-आदि। गुणात्मकता का यह आयाम, कि सब कुछ सुन्दर, प्रतिभावान, स्वस्थ व गुणसम्पन्न हो मात्र भौतिक और अस्थाई है, क्योंकि ये सभी चीज़ें देह के साथ ही समाप्त हो जाने वाली हैं। सौन्दर्य व स्वास्थ्य कब तक रहेगा ! एक दिन तो देह को जाना है। तो बुढ़ापा व रोग भी आएँगे। पद और व्यवसाय भी कब तक रहेगा, ये समस्त भौतिक वस्तुएँ क्षणभंगुर व नश्वर हैं। सुखद जीवन भी गुणात्मक जीवन का एक अंग है, लेकिन सुख भी एक दिन दुःख बनेंगे जब वे सुख-साधन नहीं रहेंगे अथवा हमारी इन्द्रियों में उनके भोग की क्षमता क्षीण हो

जाएगी। इसलिए यह मात्रात्मक जीवन ही है, जिसमें हम तथाकथित कर्मठता से बहुत कुछ एकत्र करते हैं, लेकिन अशान्त और विक्षिप्त ही रहते हैं। मात्रात्मक जीवन में धन की मात्रा, सम्पदा, ज़मीन, जायदाद, तथाकथित सगे-सम्बन्धी, कारोबार, सामाजिक रुतबा व प्रभाव बहुत होता है, लेकिन हम नहीं जानते, कि यह सब हमारे लिए सिर-दर्द का कारण बन रहा है। **आनन्दमय जीवन का दूसरा नाम गुणात्मक व असाधारण जीवन है। आनन्द की अविरल अनुभूति के लिए हमें सुख-दुःख से परे अपने सच्चिदानंद-स्वरूप अथवा कारण-देह से सम्पर्क करना होगा। पराशक्ति की विशेष अनुकम्पा व कृपा के बिना गुणात्मक जीवन सम्भव ही नहीं है। असाधारण जीवन के लिए माया में भी मुझे महामाया या पराशक्ति का आश्रय लेना होगा।**

इस महामाया से सम्पर्क के लिए दो आयाम हैं—एक **तान्त्रिक** दूसरा **भक्तिपरक**। पराशक्ति की तन्त्र-पूजा और पराशक्ति की भक्ति द्वारा पूजा। तन्त्र-पूजा में सीधे शक्ति को विधि-विधान द्वारा पूजा जाता है, जबकि शक्ति, शिव से पृथक् नहीं है। उसका स्वामी शिव है। **पहले ईश्वर-विमुख होकर हमने माया पर कब्ज़ा करना चाहा तो माया, यह प्रकृति प्रतिकूल हो गई। अब महामाया में भी मानव कभी त्रुटि करता है, कि सीधा शक्ति को प्रसन्न कर लो। यह तन्त्र-उपासना अवश्य ही अन्ततः घातक होती है।** मैं माया में ईश्वर-विमुख हुआ तो माया प्रतिकूल हो गई। यदि महामाया प्रतिकूल हो गई तो मेरी क्या दशा होगी, यह हम सोच भी नहीं सकते। **महामाया से सम्पर्क के लिए तन्त्र, यन्त्र, नाम-जाप, मन्त्र-जाप, सिमरन, साधना, पूजा का विशेष महात्म्य बताया गया है।** मैं इन सबके विषय में इष्ट-कृपा से जो अनुभूति हुई है, उसका वर्णन करूँगा।

इन विशिष्ट पराशक्तियों का एक स्वरूप होता है, जिसे **यन्त्र** कहते हैं। **इस स्वरूप रूपी यन्त्र की पूजा की जाती है।** उदाहरणतः एक बिल्डिंग बनाई जाती है, तो पहले उसका नक्शा बनाया जाता है। बिल्डिंग की यदि हम पूजा करना चाहते हैं, तो उसकी पूजा उसके नक्शे के माध्यम से की जा

सकती है। यह माँ अन्नपूर्णा की रसोई है, यहाँ अक्षत चढ़ाओ। यह पूजा का कमरा है, यहाँ पुष्प चढ़ाओ। यह भोजन का कमरा है, यहाँ नैवेद्य चढ़ाओ, यह बैठने का कमरा है, यहाँ धूप-दीप दिखाओ आदि-आदि। बिल्डिग के नक्शे को आप बिल्डिग का स्वरूप मान लीजिए। इसी प्रकार प्रत्येक पराशक्ति का यन्त्र होता है, जो उस भगवती के सम्पूर्ण मण्डल का प्रतिनिधित्व करता है। **उस भगवती के रूप का सम्पूर्ण स्वरूप उस यन्त्र में निहित होता है। जैसेकि दुर्गा-यन्त्र, काली-यन्त्र, सरस्वती-यन्त्र आदि-आदि।** जैसेकि एक व्यक्ति का एक नाम-रूप होता है। उस एक नाम-रूप का एक स्वरूप है। उसमें उसकी धर्मपत्नी, बच्चे, माता-पिता, अन्य परिवारजन, सगे-सम्बन्धी, मित्र-शत्रु, आस-पड़ौस, देश-विदेश आदि सम्पूर्ण सूक्ष्म-मण्डल समाहित रहता है।

वह व्यक्ति जो देखने में एक व्यक्ति लगता है, वह एक व्यक्ति नहीं है। उस व्यक्ति में उसका सम्पूर्ण समष्टिगत सूक्ष्म-जगत समाहित रहता है। इस सम्पूर्ण सूक्ष्म-मण्डल में भी उसका एक **विशिष्ट सूक्ष्म-जगत** रहता है, जिससे प्रभावित होकर वह सुखी-दुःखी होता है। **जिससे वह चिन्तित होता है अथवा हर्षित होता है, वह उसका विशिष्ट समष्टिगत सूक्ष्म-मण्डल कहलाता है।** हमारी अपनी देह और सगे-सम्बन्धी, मित्र-शत्रु, पद-व्यवसाय, समाज, देश आदि जिनसे हम सम्बन्धित हैं, यह हमारा सूक्ष्म-मण्डल है। उदाहरणतः हाय, मेरी बेटी के साथ ऐसा क्यों हुआ, मैं बीमार हो गया, मेरी पदोन्नति हो गई अथवा मेरा नौकर चला गया, अब काम कैसे होगा आदि ! इसी प्रकार अनेक रूपों में हमारा विशिष्ट समष्टिगत सूक्ष्म-मण्डल हमें प्रभावित करता रहता है। **कुछ हमारा सामान्य समष्टिगत सूक्ष्म-जगत भी होता है, जिससे हम प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं और विशेष रूप से प्रभावित नहीं होते।** लेकिन वह भी हमारी देह का भाग होता है, जो हमें अन्यथा ज्ञात नहीं था। जब हम उससे प्रभावित हुए तब जाना। हमारे सूक्ष्म जगत में किसी को कोई प्राप्ति हुई तो उससे हम प्रसन्न होते हैं। किसी को कुछ नुकसान हुआ और हमें भी दुःख हुआ तो वह हमारी देह का ही भाग है। देश पर शत्रु

का आक्रमण हो जाए तो हम चिन्तित हो जाते हैं, क्योंकि देश-धर्म हमारा स्वरूप है। **हमारे मठ-मन्दिर हमारा स्वरूप हैं। जब उन पर कोई आघात होता है, तो हम प्रभावित होते हैं, जब उनकी पूजा होती है, तो हम प्रसन्न होते हैं।** यह सब कुछ हमारी देह है, जिसमें एक हमारी नाम-रूप की स्थूल-देह भी है। यही समझो हमारा यन्त्र है।

इसी प्रकार प्रत्येक पराशक्ति अथवा महामाया का एक यन्त्र होता है, जो उसका सम्पूर्ण स्वरूप है। जिसकी पूजा होती है। जो बच्चा माँ की गोद में उसका आश्रित है, वह माँ यदि एक दिन देखे कि कोई उस बच्चे को प्यार कर रहा है, उपहार दे रहा है अथवा उसकी पूजा कर रहा है, तो वह प्रसन्न हो जाएगी। बच्चे को कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, चाहे उसकी कोई पूजा करे या अपमान करे। इसी प्रकार यन्त्र की पूजा होती है। वास्तविकता यह है, कि आपका इष्ट ही भगवान है, वही सर्वोपरि है।

पराशक्ति ईश्वर की भगवत्ता का नाम-रूप में प्रकाट्य है और एक उसका स्वरूप है, जिसे यन्त्र कहते हैं। इसे उपासकों व तत्त्वज्ञों ने ध्यान में देखा। उन्होंने जो अनुभूति की, उसका उन्होंने डिज़ाइन बना लिया, जिसे यन्त्र कहा जाता है। **इस स्वरूप की पूजा होती है और रूप का सिमरन होता है। जब तक हमने किसी का रूप नहीं देखा तो उसे याद कैसे करेंगे ! यह याद, हमारा उसके साथ सम्पर्क या सम्बन्ध है।** निश्चय ही हमारा एक रूप, उसके रूप के साथ जुड़ा हुआ है। **हम अपने उस रूप को याद करते हैं, जो उसके साथ सम्पर्क में था। इसे ही याद व सिमरन करते हैं।** नाम-जाप और सिमरन को एक श्रेणी में नहीं रख सकते। **जाप के साथ जब आपको प्रभु के उस रूप की याद आने लगे और उसे याद करके आपकी आँखों से आँसू बहने लगें, तो उस समय की स्मृति आपकी अनुभूति बन जाती है।** उसकी स्मृति आते ही आपकी वह अनुभूति जाग्रत हो जाती है। इसे ही सिमरन कहा जाता है। उस पराशक्ति के किसी भी नाम-रूप का जब आप भाव और श्रद्धापूरित हृदय से जाप करते हैं, तो जाप करते-करते भी वह महामाया अपने सान्निध्य की अनुभूति करा देती है। उसकी याद में

आपके अश्रु बहने लगते हैं। **तब जाप और सिमरन एक हो जाते हैं। आपने माँ का दर्शन भी नहीं किया, लेकिन उसकी निकटता व समीपता की अनुभूति आपको रोमांचित और कम्पायमान कर देती है।** उस स्मृति की अनुभूति को **सिमरन** कहते हैं।

नाम-जाप व मन्त्र-जाप में क्या अन्तर है? मन्त्र, मन को प्रभावित करता है। जीवन में अन्य विभिन्न स्थितियों में हम उसी बात से उद्वेलित, हर्षित अथवा विभिन्न रूप से प्रभावित होते हैं, जो हमारे मन को छू जाती है। बौद्धिक स्तर तक रहने वाले विषय विचार-चिन्तन तक रहते हैं, उसके बाद वह बात मन तक जाती है। **कभी-कभी कोई बात सीधे हमारे मन को प्रभावित करती है। गुरु की वाणी का, जाप का अथवा अन्य पुरुषार्थ कर्मों का जो भी प्रभाव होता है, वह मन के माध्यम से होता है।**

उस पराशक्ति अथवा इष्ट का जब गुरु मन्त्र देता है, तो वह मन्त्र, सिद्ध होता है। यद्यपि वही अक्षरों का समूह पुस्तकों आदि में भी लिखा होता है, लेकिन उसका वह प्रभाव आपके मन पर कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि **गुरु की वाणी से निकले उन्हीं अक्षरों के समूह रूपी मन्त्र पर सद् की छाप लग जाती है। सिद्ध-पुरुष द्वारा दिए गए मन्त्र का अनुकूल प्रभाव ही होता है।** नाम-जाप आप स्वयं कर सकते हैं, इससे आपको उस इष्ट से स्वयं ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है। **मन्त्र-जाप किसी समर्थ, सिद्ध सद्गुरु से ही लेना चाहिए। उसके जप से आपके मन में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है।** सद्गुरु को ज्ञात होता है, कि शिष्य की मानसिक अवस्था क्या है? शिष्य की पात्रता व स्थिति के अनुसार ही वह मन्त्र देता है। फिर ध्यान द्वारा उसकी निगरानी भी करता है, कि कहीं मन्त्र-जाप की प्रतिकूल प्रतिक्रिया तो नहीं हो रही। वह शिष्य के लिए प्रार्थना करता है। इसीलिए मन्त्र-जाप कभी भी ऐसे ही पुस्तक आदि पढ़कर नहीं करना चाहिए। मन्त्र में कई फेर-बदल होते हैं, जैसे—लोम-विलोम-जाप। कई पद होते हैं। एक ही पराशक्ति के मन्त्र भिन्न-भिन्न स्तरों के होते हैं, जैसेकि वैद्य, एक ही रोग से पीड़ित विभिन्न

आयु और विभिन्न परिवेश के लोगों को एक ही दवाई, एक ही डोज़ में नहीं देता। बच्चे के लिए उसकी डोज़ कम होती है, वयस्क के लिए अधिक। मन्त्र को **किस शिष्य को किस रूप में देना है, यह निर्णय सद्गुरु करता है। साथ ही उसकी सारी देखभाल भी करता है।** इसीलिए मन्त्र-जाप किसी सिद्ध, समर्थ सद्गुरु से ही लेना चाहिए, क्योंकि उसके ऊपर उसकी जिम्मेवारी होती है।

यदि आप भगवान को उसकी शक्तियों की कामना से ध्याते, पूजते हैं तो यह उपासना शिव-शक्ति की उपासना न होकर **शक्ति की तन्त्र-उपासना है।** आपको शक्ति चाहिए, कोई न कोई ऋद्धि-सिद्धि अथवा सांसारिक कामना के लिए आप ईश्वर की ओर उन्मुख हुए हैं, तो यहाँ यह महामाया उलझा देती है। कामनाएँ अस्थाई तौर पर पूरी भी होती हैं, लेकिन कालान्तर में वे सिद्धियाँ ही विनाश का हेतु बन जाती हैं।

आप कहेंगे कि भगवान व भगवत्ता में क्या अन्तर है? भगवान से उसकी भगवत्ता, शिव से शक्ति कभी विलग नहीं होती। जहाँ भगवान मिलेगा, वहाँ भगवत्ता तो साथ मिलेगी ही। लेकिन जो विशुद्ध वैरागी भक्त है, उसे अपने इष्ट से निःस्वार्थ प्रेम होता है। उसे उसकी सत्ता की विभूतियों के साथ, उसके स्वरूप की भगवत्ता व शक्तियों से (जिसके द्वारा वह सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करता है) कुछ लेना-देना नहीं होता। जैसेकि एक अबोध शिशु को, अपनी माँ की गोद ही प्यारी होगी। माँ के सामने कोई महारानी उसे गोद में ले ले तो भी वह रोने लगेगा। **भक्त का भगवान को उसकी भगवत्ता के लिए चाहने अथवा भगवान को भगवान के लिए चाहने में यही अन्तर है। अबोध शिशु को जैसे अपनी माँ प्यारी होती है, उसी प्रकार भक्त को अपने इष्ट से प्रेम होता है।** वह उसकी भगवत्ता और असीम चमत्कारिक शक्तियों के बारे में जानना भी नहीं चाहता। मैंने **'राग-वैराग-अनुराग'** 'शीर्षक प्रवचन के तृतीय भाग में श्री हनुमानजी के उदाहरण द्वारा इस विषय का स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन किया है। **इष्ट स्वयं देखता है, कि इस भक्त को कब क्या चाहिए।**

कुछ साधकों को भगवत्ता इच्छित होती है, तो वे इन **महाशक्तियों** को सीधे सम्पर्क करते हैं। सबका एक तन्त्रिका-तन्त्र होता है। इसके लिए पूरा विधि-विधान देखकर उसका अनुसरण करना होता है, जोकि पूरी तरह से कोई कर ही नहीं सकता। **इसमें त्रुटि होने का भय रहता है। छोटी-मोटी सिद्धियाँ मिल सकती हैं, लेकिन कालान्तर में इनका दुष्प्रभाव ही होता है।** तन्त्र के अधीन उन शक्तियों का एक विशेष काल होता है, जिसमें उसका प्रभाव अनुकूल रहता है, इसके बाद वे ही शक्तियाँ विपरीत हो जाती हैं। विशेष जड़ीबूटियों, पदार्थों, प्रकरणों, जप-तप आदि से तन्त्र पूजा द्वारा समस्त औपचारिकताओं का पूर्ण र्निवाह करते हुए हमने किसी शक्ति को सिद्ध भी कर लिया, तो उसका एक सुनिश्चित समय होता है। उसके दौरान भी उस सिद्धि की देखभाल की अनेक औपचारिकताएँ रहती हैं। ऐसी सिद्धियों को प्राप्त करने वाले सबसे अधिक विक्षिप्त और भयभीत रहते हैं। इस भुलावे में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए।

शक्ति को शिव से पृथक् नहीं मानना। हम राधा-श्याम, सीता-राम कहते हैं, लेकिन शिव-शक्ति कहते हैं। यहाँ शक्ति से पहले शिव को रखा। यह सोद्देश्य है, इसका विशेष अर्थ है। **इन पराशक्तियों अथवा महामाया से सम्पर्क शिव के माध्यम से करना चाहिए। शिव प्रसन्न हो जाएगा तो माया महतारी रूप में आपकी रक्षा करेगी। शिव ने जो भी देना है, वह शक्ति के जरिए ही देता है। यद्यपि आपको चाहिए कुछ नहीं, लेकिन तब भी आपका पूरा ध्यान रखा जाता है।** आप यही कहते हैं, कि हे प्रभु ! मुझे कुछ भी ऐसा नहीं देना जो तेरे और मेरे बीच बाधा बने। यदि सीधे शक्ति को माँगेंगे तो वह आपके और आपके इष्ट के मध्य आ जाएगी।

यन्त्र की पूजा होती है, तन्त्र साधना है और मन्त्र का जाप होता है। सबसे सरल नाम-जाप और सिमरन ही है। नाम-जाप करते-करते जब सद्‌गुरु, शिष्य की मानसिक स्थिति देखता है, कि इसे इष्ट के नाम-जाप का चस्का पड़ गया है, तो वह मन्त्र देता है। फिर उस मन्त्र में कालान्तर में कई परिवर्तन भी करता है, जिससे उस मन्त्र की शक्ति परिवर्द्धित

होती है। इस प्रकार हम ईश्वरीय निजी शक्ति महामाया को ध्याते हैं, पूजा करते हैं। उसका सिमरन व जाप करते हैं, तो किसी भी जन्म में ईश्वर-विमुखता में जो हमसे अपराध हो गए होते हैं, वे क्षमा हो जाते हैं। प्रकृति हमारे अनुकूल हो जाती है तथा हमारा जीवन सुखी व आनन्दमय हो जाता है। पराशक्तियाँ, महामाया भी माया या प्रकृति द्वारा ही हम पर कृपा करती हैं।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(30 अक्टूबर 2005)

कल्पना से यथार्थ

कल्पना उसे कहते हैं, जो आपने कभी न देखा हो, न कभी सुना हो और न ही भविष्य में देखने, सुनने की सम्भावना ही हो। किसी ने आज तक अपना जन्म नहीं देखा और देख भी नहीं सकता। इसलिए **जन्म कल्पना है।** इसी प्रकार मृत्यु भी एक कल्पना ही है, क्योंकि किसी ने स्वयं की मृत्यु न देखी है और न कभी देख पाने की सम्भावना ही है। **रात्रि में सोते हुए जो स्वप्न आते हैं, उन स्वप्नों में भी अपना स्वयं का जन्म या मृत्यु होते हुए आज तक किसी ने नहीं देखा।** जीवन, जन्म से प्रारम्भ होता है और मृत्यु में उसका अन्त होता है। जीवन के ये दोनों छोर काल्पनिक हैं, तो जन्म और मृत्यु के मध्य का जीवन-काल भी काल्पनिक ही है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है, कि हम सब काल्पनिक जीवन जी रहे हैं और उसी में व्यस्त हैं।

जन्म और मृत्यु के इन काल्पनिक छोरों में बँधी देह पंच महाभूतों से बनी है। जितना भी चराचर प्राणी-जगत है—जलचर, थलचर, नभचर आदि सभी (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि व वायु) पंच-महाभूतों में बनी ईश्वरीय प्रकृति अथवा माया का अंग है। जीवन व मृत्यु के काल्पनिक किनारों में सीमित हमारी देह, इस समस्त ईश्वरीय प्रकृति का संघनित रूप (Condense form) है। यह ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट, परम विलक्षण, विशिष्टतम् एवं चमत्कारिक सुकृति है। **पाँच सहज जड़ तत्त्वों का अकाट्य संगम यह मानव-देह, मायिक होते हुए भी चेतन है।** जब जीवन का दूसरा काल्पनिक छोर मृत्यु आ जाती है, तो इसमें चेतन सत्ता नहीं रहती। तब दाह-संस्कार

द्वारा यह देह उन्हीं पाँच सहज जड़ महातत्त्वों में विलीन हो जाती है, जिनसे यह निर्मित होती है। जब तक चेतनता रहती है, ये पाँच तत्त्व परस्पर गुँथे-मुथे रहते हैं। जब पंच-प्राण-पुंज ईश्वरीय चेतना इसे छोड़ती है, तो यह संगम स्वयं में निरर्थक हो जाता है। पाँचों तत्त्व अपने-अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं तथा शेष रह जाती है—**भस्मी।** सम्पूर्ण ईश्वरीय प्रकृति की प्रतिनिधि मानव-देह का यह महाशेष **'भस्मी'** जन्म और मृत्यु के दोनों काल्पनिक छोरों से बाहर है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि से परे वह महातत्त्व है—**'भस्मी',** जो तत्त्वातीत है।

विचारणीय विषय यह है, कि मानव-देह पंच मायिक महाभूतों का अकाट्य, अविरल व साकार संगम है, जो पाँच प्राणों की ईश्वरीय शक्ति द्वारा संचालित होती है। जब प्राण निकल जाते हैं, तो मृत काया शेष रह जाती है। इसका दाह-संस्कार करने से यह पुनः पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है एवं शेष बचती है—**'भस्मी'।** जो स्वयं में तत्त्वातीत है। प्रश्न यह उठता है, कि यह **'भस्मी'** कहाँ से आई। यह **'भस्मी** उन पंच प्राणों का, पँच-महाभूतों के देह रूप में संगम होने का प्रमाण है। प्रमाण-पत्र के रूप में यह **'महाशेष'** स्वयं में जड़ है, तत्त्वातीत है एवं समस्त चराचर जगत की एक ही है। माया का मायातीत प्रमाण है। जन्म एवं मृत्यु के काल्पनिक छोरों से बँधी काल्पनिक देह का **'यथार्थ'** भविष्य है—यह **'भस्मी'।** क्योंकि यह जन्म एवं मृत्यु की काल्पनिक सीमा से परे है, निश्चित है, परिलक्षित एवं दर्शित है।

ईश्वर प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच प्राणों का पुंज है, जो निराकार है। पंच-महाभूत इन्हीं प्राणों की प्रतिच्छाया हैं, जो क्रमशः अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश के रूप में इस समस्त चराचर साकार सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करते हैं। मानव-देह इस समस्त मायिक चराचर सृष्टि का संघनित रूप है, जो जन्म और मृत्यु के काल्पनिक किनारों में बँधी हुई, हमें मिली है। **देह प्राप्त होने के बाद इसके अगले पल की भी कोई सुनिश्चितता हमें नहीं होती।** लेकिन फिर भी इस देह के नाम-रूप की

प्रतीति होते ही हमें इससे अध्यास हो जाता है, कि **'मैं यह देह ही हूँ और यह देह मेरी है'**। इसे पाकर हम इस पर अपना गैरकानूनी कब्ज़ा कर लेते हैं। तभी से हमारा समस्त जीवन काल्पनिक हो जाता है। जब हम देह पर अधिपत्य करेंगे, तो हमारा सम्बन्ध इसके दोनों काल्पनिक छोरों से भी होना आवश्यक है।

जीवात्मा स्वयं में अजन्मा है, अजर, अमर है। सच्चिदानंद ईश्वर का विशुद्ध अंश है, लेकिन स्वयं को देह मानकर दो कल्पनाओं से बँध जाता है, कि मेरा **जन्म हुआ था** और **मेरी मृत्यु होगी।** इस प्रकार जीवात्मा एक देह बनकर जन्म-मरण-धर्मा एक जीव बन गया। जीव बनकर उसने जीव-सृष्टि बनानी प्रारम्भ कर दी—माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-शत्रु, आस-पड़ोस, सगे-सम्बन्धी, नाते-रिश्तेदार, जाति, धर्म, समाज, देश, समय, युग-युगान्तर, लोक-लोकान्तर तथा काल की विभिन्न विधाएँ और न जाने क्या-क्या बनता चला गया। इस प्रकार **'मैं'** रूप में अपनी देह की मान्यता पर आधारित कल्पित जीव-सृष्टि का विस्तार होता ही चला गया। यह जीव अपने ही बनाए जाल में फँसता रहा। कल्पना में तो कल्पनाओं का जाल बिछ जाता है। स्वयं को पैदा होते नहीं देखा, लेकिन जन्म कल्पित कर लिया। उसी कल्पना में एक माँ बना ली, एक पिता बना लिया। अरे ! इन माँ-बाप से तूने स्वयं को पैदा होते देखा था 'कि नहीं,' बस मान लिया। पूर्व जन्म में तेरी कौन सी माँ थी, कौन पिता था। तू बार-बार माँ-बाप को बदलता क्यों जा रहा है। हर पृथक्-पृथक् देह के साथ तू सारे सम्बन्धी भी बदलता जा रहा है। फिर दोबारा पैदा होता है, दूसरी कल्पनाएँ करता है। एक ही जन्म में भी लगातार मित्र-शत्रु, समाज तथा विभिन्न मान्यताएँ परिवर्तित करता रहता है। **इन्हीं कल्पनाओं में जीव का स्वयं के यथार्थ स्वरूप से सम्पर्क टूट गया। एक नाम-रूप की देह से बँधकर इसने कल्पना में विविध बन्धनों का जाल बिछा लिया। स्वयं यह भीड़ में होते हुए अकेला हो गया। इसका अस्तित्व जिस अपने स्वरूप-ईश्वर से था, उससे इसका सम्बन्ध टूट सा गया।**

सच्चिदानंद ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र स्वतन्त्र जीवात्मा सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, खोना-पाना, लाभ-हानि, मिलना-बिछुड़ना, लेना-देना, जन्म-मृत्यु में युगों-युगान्तरों से उलझता ही चला आ रहा है। जिस वस्तु, पदार्थ व प्राणी के लिए यह उलझता है और सुखी-दुःखी होता है, वे नहीं रहते, मगर उलझन रह जाती है। जीवन में असंख्य भविष्यों की ओर जीव तथाकथित अग्रसर होने लगा। जीवन-काल में जितने भविष्य हैं, वे कालावधि तथा काल दोनों कल्पित हैं। उन सीमाओं से बँधे भविष्यों को कोई मानव अपनी सीमा में नहीं बाँध सकता। जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन में किसी भी भविष्य की अवधारणा नहीं की जा सकती। जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ हैं। अतः इसके मध्य के काल्पनिक जीवन में किसी भविष्य के लिए परिकल्पना ही होगी, कि ''मैं अमुक बन गया हूँ'' और ''अमुक बन जाऊँगा''।

आध्यात्मिक जगत में जीवन में स्थिरता के लिए परिकल्पनाएँ भी की जाती हैं, कि मैं भाग-दौड़ रहा हूँ आखिर चाहता क्या हूँ? कब तक भागता रहूँगा? जो मैं चाहता हूँ, वह मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा? जिनके पास वह सब है, जो मैं अर्जित करना चाहता हूँ, क्या वे सुखी हैं? यहाँ से जीवन के विभिन्न Concepts या धारणाएँ प्रारम्भ होती हैं। इसके चार आयाम हैं:—

1. सकारात्मक—सकारात्मक (Positive–Positive)
2. नकारात्मक—नकारात्मक (Negative–Negative)
3. सकारात्मक—नकारात्मक (Positive–Negative)
4. नकारात्मक—सकारात्मक (Negative–Positive)

जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन में भविष्यों में भी हमें आश्वस्त होना चाहिए, कि कौन सी परिकल्पना आपको बन्धन-मुक्त करने में सहायक होगी। पहली धारणा है—**सकारात्मक-सकारात्मक।** यदि हम अत्यधिक धन अर्जित करना चाहते हैं और यह सोचते हैं, कि हे प्रभु ! मैं करोड़पति बन जाऊँ, फिर तो आनन्द ही आ जाएगा। तो यह दृष्टिकोण हमें गर्त में ले

जाएगा। करोड़पति बन जाऊँ (सकारात्मक दृष्टि) और बनने पर आनन्द आ जाएगा (सकारात्मक दृष्टि) इन दोहरे सकारात्मक भावों में करोड़पति यदि बन गया और मज़ा भी आ गया, तो अरबपति बनने की तमन्ना अवश्य ही पैदा हो जाएगी। साथ ही एक तो पाने का अहं हो जाएगा, और जो पाया है, वह भी अन्ततः यहीं रह जाना है और जीते जी भी खो सकता है। प्राप्ति होने पर आगे और पाने की आसक्ति पुनः भगाएगी। **एक इच्छा पूरी न हो तो एक इच्छा रहती है और पूरी हो जाए तो असंख्य इच्छाएँ बन जाती हैं।** सब कुछ यहीं छोड़कर जाना है। आवश्यकता से अधिक होने पर जीवन-काल में भी बोझ बना रहेगा। मृत्यु के समय भी तनाव बना रहेगा, कि हाय! इतना छोड़कर जा रहा हूँ, कौन सम्भालेगा ! यह बोझ मृत्यु को भी दुश्वार कर देगा।

दूसरी परिकल्पना **नकारात्मक-नकारात्मक** है, इस दृष्टि से मेरे मानस में यह भाव रहता है, कि यदि मैं करोड़पति न बन पाया और इतना धन मुझे प्राप्त न हुआ तो मैं बरबाद जाऊँगा। करोड़पति न बन पाया (नकारात्मक दृष्टि) फिर बरबाद हो जाऊँगा (नकारात्मक दृष्टि) अथवा मेरा बेटा एम. बी. ए. न कर पाया तो रोज़ी-रोटी कैसे कमाएगा? यह दोहरी नकारात्मकता मानसिक रोगों की जननी है। अरे ! यह तो सोचें, दुनिया में क्या सभी एम. बी. ए. करते हैं? जो नहीं करते क्या वे जीवन जीते नहीं हैं? आध्यात्मिक जगत में लाभ नहीं, हित देखा जाता है, जिसे देखने के लिए सद्गुरु की कृपा अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से बन्धन-मुक्त होने के लिए तीसरी **सकारात्मक-नकारात्मक** तथा चौथी **नकारात्मक-सकारात्मक** परिकल्पना ही आदर्श हैं। यह सोचें कि मैं करोड़पति नहीं बन पाया तो भी क्या अन्तर पड़ जाएगा। सभी करोड़पति तो नहीं होते और अधिक पैसा बैंक में ही तो पड़ा रहना है, यह नकारात्मक–सकारात्मक दृष्टि है। यदि मैं करोड़पति बन गया तो भी क्या हो जाएगा ! यह सकारात्मक–नकारात्मक दृष्टि है, कि सब कुछ यहीं छोड़कर तो जाना है। **सुख-दुःख दोनों सशर्त** होते हैं, जबकि

जीव का स्वरूप है **आनन्द।** जिसकी कोई **शर्त** नहीं है। उसकी शर्त इसलिए नहीं है, कि वह आनन्द-स्वरूप देहातीत है और पंच-महाभूतों से परे है।

ईश्वर ने मानव को एक विशेष प्रतिभा दी है, कि वह पंच-महाभूतों की मायिक प्रकृति का बाध कर सकता है और इससे बाहर आ सकता है। वह माया, जो ईश्वर के पंच-प्राणों की छाया है, उसका बाध करने के लिए माया का ही सहारा लेना होगा। एक यह ही सर्वोत्तम, तर्क-संगत और बुद्धि-सम्मत मार्ग है। माया या प्रकृति को, प्रकृति से ही काटा जाए। जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ हैं। लेकिन जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा, यह प्राकृतिक है। **'मरेगा'** में भविष्य आ जाता है। देह के अन्त इस मृत्यु का भी एक भविष्य या अन्त है, वह है—**'भस्मी'।** मेरी देह की भस्मी अवश्य बनेगी। कब, कैसे, कहाँ बनेगी, मैं नहीं जानता। **जन्म और मृत्यु मैंने कल्पना में मान लिए, कि मैं पैदा हुआ था, मैं मरूँगा। तो इस कल्पना में, मैं एक कल्पना और कर लूँ, कि मैं मर गया हूँ और भस्मी बन गया हूँ।** एक निश्चित भविष्य है, जिसकी अवधारणा जीवन्त वर्तमान में करनी है। **जो होगा ही, वह मान लो, कि हो गया।** जब काल्पनिक जीवन में यह अवधारणा करते हैं, तो कल्पना समाप्त हो जाती है और यथार्थ का रूप ले लेती है। माइनस गुणा माइनस प्लस होता है (घटा गुणा घटा, जमा होता है, $- \times - = +$) इस प्रकार प्रकृति से प्रकृति का बाध करके जीव इस काल्पनिक माया-जाल से बाहर आ सकता है। **भस्मी जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों से बाहर इसकी देह का ही देहातीत व तत्त्वातीत तत्त्व है। इसके बाद ही यथार्थ व सार्थक जीवन में प्रविष्टि होती है, लेकिन यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।**

यथार्थ में कोई भूत, भविष्य या वर्तमान काल नहीं है, क्योंकि यथार्थ अकाल है। ये समस्त युग-युगान्तर, लोक-लोकान्तर सब कल्पना में ही हैं। निर्माण या उत्पत्ति, पालन व संहार सब कल्पना में हैं। सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग सब कल्पना हैं। एक कल्पना में, कि **'मैं देह हूँ** और **देह मेरी है'** जीवात्मा ने जीव बन कर असंख्य कल्पनाएँ कर लीं। **कल्पना में कई**

काल्पनिक गाथाएँ बन गईं। उन कल्पनाओं में सत्य को खोजने का निष्फल प्रयास जीव करने लगा। पानी को करोड़ जन्म मथते रहो, उसमें से घी निकालने की सम्भावना भी स्वयं में कल्पना ही है। तो जीव कल्पनाओं को ही मथ रहा है। जप-तप आदि विभिन्न तथाकथित पुरुषार्थ प्रकरणों में जहाँ-जहाँ भौतिक-देह का सम्बन्ध है, वहाँ पर भी सब कल्पना ही है। **यदि इस काल्पनिक माया-जाल से बाहर आना है, तो जिस जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधी देह को 'मैं' माना है, उसका वह काल्पनिक अन्त पकड़ना होगा, जो जन्म-मृत्यु की कल्पना से बाहर है।** वह है, इस देह की—**भस्मी**। **'भस्मी'** इस देह का निश्चित परिलक्षित भविष्य है, जो इस समस्त काल्पनिक मायाजाल से परे है।

कई बार बन्धन से छूटने के लिए हमें बँधना पड़ता है। तो ऐसे बन्धन से बँध जाइए, जिससे सब बन्धन कट जाएँ। मैं **'जीवात्मा'** अज्ञानवश, मायावश, मूर्खतावश, सत्संग के अभाववश काल्पनिक देह के साथ बँधा और जीव बनकर असंख्य कल्पनाओं के मकड़जाल में उलझकर रह गया। यथार्थ को जानने व सद् को पाने के लिए सबसे अधिक आवश्यक है—**एकान्त। जहाँ एक का भी अन्त हो जाए।** ईश्वर के अंश रूप में एक जीवात्मा थी, जो एक नाम-रूप की देह के साथ तद्‌रूप होकर एक जीव बनी, फिर उसने जीव-सृष्टि बनाई। उस एक देह के आधार पर उसने अपना समस्त जगत बनाया। उसी एक **आधार स्तम्भ** पर इसका सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूपी कल्पित भवन खड़ा हुआ। इस कल्पना पर आधारित इसका सारा जगत कल्पित ही है। इसलिए आप भी कलपते हैं और आपका जगत भी आपको कलपाता है। आप किस-किस से परे हटेंगे, किस-किस को छोड़ेंगे?

वास्तव में छोड़ना है, तो जीव-भाव को छोड़ना होगा। 'मैं देह हूँ' यह जो भाव है, वह कल्पना है, उससे मुक्ति मिल जाए। यह कल्पना, कल्पना से ही टूटेगी। जब तक नहीं टूटेगी, तब तक हम कल्पित, निरर्थक, सार-हीन और नकारात्मक जगत में ही विचरते रहेंगे।

आपकी देह के पंच-महाभूतों में विलीन होते ही आपका समस्त जगत भी विलीन हो जाएगा। जिन-जिन वस्तुओं, प्राणियों को एकत्र करते रहे, वे सब यहीं रह जाएंगे। आप दुनिया छोड़कर चले जाएँगे तथा अगले जन्म में पुनः शून्य से प्रारम्भ करेंगे। एकान्त का भी हमने भौतिक स्थूल अर्थ लिया, कि एकान्त के लिए जंगलों में चले जाओ। इसे **'एक'** अन्त क्यों कहा, 'दो' अन्त या 'तीन' अन्त क्यों नहीं कहा? **यह 'एक' है–मेरी नाम-रूप की देह।** जब इसका अन्त हो जाएगा, तो मैं कल्पना से यथार्थ में आ जाऊँगा।

जन्म तो हो गया। मेरी जानकारी में नहीं था और मृत्यु अवश्य होगी। **तो मृत्यु होगी, इस कल्पना से मुक्ति के लिए कल्पना कर लो कि मृत्यु हो गई और मैं भस्मी बन गया। मेरी देह जब भस्मी बन जाएगी, तो न मैं रहूँगा और न देह रहेगी।** तो वह भस्मी जड़, निष्प्राण और अर्थहीन होगी। उस भस्मी को चाहे कोई कहीं भी डाल दे या न डाले। **मृत्योपरान्त पंच-महाभूतों की देह पंच-महाभूतों में उस समय विलीन होती है, जब इसमें चेतन सत्ता नहीं होती।** चेतना के अभाव के साथ ही मेरी नाम-रूप की देह निष्प्राण हो जाती है। मृतकावस्था में देह होती है, लेकिन **'मैं'** नहीं रहता। इस मृतक देह के पंच-महाभूतों में विलीन होने के बाद देह भी नहीं रहती। मात्र मुट्ठी भर भस्मी शेष रह जाती है। उस भस्मी से यदि पूछो, कि आप किसकी हैं, तो वह यही कहेगी, कि मैं तो सब की हूँ। भस्मी का न कोई नाम-रूप है, न धर्म, कर्म, कर्तव्य, न कोई पद-प्रतिष्ठा, न घर, न परिवार, न सम्बन्ध, न देश, न काल। भस्मी वहाँ जाएगी जहाँ उसे हवा उड़ाकर ले जाएगी या पानी बहाकर ले जाएगा। नहीं तो वहीं पृथ्वी पर पड़ी रहेगी। उसका अपना कोई कार्यक्रम नहीं होता। भस्मी न जागती है, न सोती है, न स्वप्न देखती है, न समाधि में जाती है। भस्मी कोई जप-तप नहीं करती, प्राणायाम, ध्यान-साधना नहीं करती। उसकी कोई अवस्था नहीं है। वह स्थित्यातीत है, अवस्थातीत है। सब स्थितियाँ व अवस्थाएँ उसी की हैं, उसका न भूत है, न भविष्य और न वर्तमान ही है। वह कालातीत है। **'भस्मी'** शिव की

ओढ़नी है। लीलाएँ यथार्थ देह में होती हैं। काल्पनिक देह में जीव स्वयं तमाशा बना रहता है।

देह रहते जन्म और मृत्यु के मध्य के इस काल्पनिक जीवन-काल में जीते जी जब सद्‌गुरु-कृपा से मैं अवधारणा करता हूँ, कि **मैं मर गया हूँ** और भस्मी बन गया हूँ, तो **मैं भी** होता हूँ, देह भी होती है और अवधारणा की भस्मी भी होती है। **मेरी देह की भस्मी होती है, लेकिन भस्मी स्वयं किसी देह-विशेष से नहीं बँधती।** तब मेरी काल्पनिक देह, यथार्थ देह में रूपान्तरित हो जाती है। **वह मेरी देह से प्रभु की देह हो जाती है। मैं एकान्त की स्थिति में आ जाता हूँ। क्योंकि नाम-रूप की एक देह के साथ हुआ मेरा देहाध्यास, भस्माध्यास में रूपान्तरित हो जाता है।**

हमारे समस्त तथाकथित कृत्य भविष्य के लिए होते हैं। उन अनिश्चित भविष्यों को ढोकर हम अपने वर्तमान को आच्छादित कर देते हैं व भटकते रहते हैं, जबकि भस्मी की अवधारणा से ही आप स्थिर हो जाएँगे। **उस भस्मी में चेतना आ जाएगी, वह भस्मी देह-युक्त हो जाएगी और आपकी देह, काल्पनिकता से मुक्त हो जाएगी। वही अब भस्मीमय यथार्थ-देह में रूपान्तरित हो जाएगी। जब भस्मी देहमय होगी, तो वह यथार्थ-देह होगी। वही आपकी एकान्त स्थिति होगी।**

पहले आपकी देह भस्मीमय थी, अक्सर मानव को **माटी का पुतला** कहा जाता है। हम सभी माटी के पुतले ही हैं। पंच-महाभूतों की देह का पुतला, माटीमय है। **जब वह माटी पुतलामय बन जाए,** यानि भस्मी देहमय बन जाए तो वह एकान्त की मानसिक स्थिति है। **आप होते हैं, लेकिन आपका जीवभाव समाप्त हो जाता है। धीर-धीरे माँ जगदम्बा की कृपा से देहाभास, भस्माभास में रूपान्तरित हो जाता है।** वह देह, भस्मी की तरह सबकी होती है। वह कालातीत, देशातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, मायातीत, तत्त्वातीत व लिंगातीत होती है। सतयुग के मानव की भस्मी और कलियुग के मानव की भस्मी में कोई अन्तर नहीं होता। घोर नारकीय जीवन बिताने वाले की भस्मी और स्वर्ग के भोग

करने वाले की भस्मी एक ही होती है। **भस्मी युगों-युगान्तरों से एक ही है। इस प्रकार 'भस्मी' मानव-देह की समस्त विधाओं, सुकृतियों-विकृतियों, पापों-पुण्यों, शुभ-अशुभ सब से परे है।**

जीवन में सफल व्यक्ति वही है, जो कल्पना से यथार्थ में आ गया है। नहीं तो कल्पना में पैदा हुआ, कल्पना में ही मर गया। मध्य में कल्पना में ही तो सब कुछ पाया या खोया, तो अन्ततः मिला क्या? अतः जीवन का लक्ष्य यही है, कि देह के रहते हुए **मैं काल्पनिक देह से यथार्थ देह में प्रविष्टि पा लूँ।**

बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(1 नवम्बर 2005)

अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष

मानव-देह मिलना स्वयं में अति सौभाग्य और परम ईश्वरीय कृपा का लक्षण है। **हमें मानव-देह देने के नेपथ्य में ईश्वर का विशेष 'अर्थ' था। यह हमें साभिप्राय मिली है।** यह समस्त चराचर जगत, जिसमें हम मानव भी हैं, उस परम पिता परमात्मा की ही छाया है, माया है। ईश्वर चाहता तो हमें कोई भी देह दे सकता था। इन जलचरों, थलचरों, नभचरों की देह भी उन्हीं पंच-तत्त्वों (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि एवं वायु) से बनी है, जिनसे हमारी देह बनी है। ये पंच-महाभूत ईश्वर के अदृश्य व निराकार पाँच प्राणों (समान, उदान, व्यान, प्राण व अपान) का बाह्य प्रकटीकरण हैं और इन्हीं के विभिन्न अनुपातों के संगम से यह समस्त चराचर मायिक जगत साकार रूप में दृश्यमान है।

होश सम्भालते ही मैं अपनी देह को अपने साथ पाता हूँ। माता-पिता, परिवार, देश-काल, समाज सब कुछ मेरे लिए स्वतः उपलब्ध होता है। पंच-तत्त्वों में निर्मित समस्त सृष्टि मेरे सम्मुख प्रकट होती है, मैंने उसके लिए कुछ कर्म या पुरुषार्थ नहीं किया होता। प्रारब्ध के अनुसार हमें देह मिलती है और निश्चित समय पर चली जाती है। जन्म और मृत्यु के मध्य में जो भी क्रिया-कलाप हैं, वे भी उस प्रारब्ध के अनुसार ही होते हैं। **इस प्रारब्ध रूपी कैसेट में जन्म से लेकर मृत्यु तक और उसके बाद क्रिया-कर्म तथा भस्मी बनने तक का समस्त कार्यक्रम पहले से ही अंकित रहता है। उसी के अनुसार हमारा जीवन चलता है।** प्रश्न उठता है, कि फिर ईश्वर को मानने व **अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष** रूप में **पुरुषार्थ** की आवश्यकता क्या है? समस्त

पशु-जगत ईश्वर को नहीं मानता। उनका समस्त पालन-पोषण व अनुकूलन ईश्वर की प्रकृति करती है। **न हम ईश्वर को मानकर पैदा हुए और न ही ईश्वर को मानने से मृत्यु से बच पाएँगे।** तो फिर हमारे ईश्वर को मानने या न मानने से हमें या ईश्वर को क्या अन्तर पड़ता है ! महत्त्वपूर्ण यह नहीं है, कि ईश्वर को कैसे ध्यायें या कैसे पूजा करें, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है, कि ईश्वर का ध्यान-पूजा क्यों करें? पुरुषार्थ कर्मों की आवश्यकता ही क्या है?

पुरुषार्थ यानि पुरुष+अर्थ, जब मैं अपनी चेतन सत्ता, ईश्वरीय स्वरूप के **बारे में** जानने या **उसे** जानने की दिशा में कुछ भी कर्म करता हूँ तो वे कर्म, पुरुषार्थ-कर्म कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में ***'मुझे मानव-देह किसलिए मिली है'*** यह जानने के लिए जब कुछ भी करता हूँ, तो वे कर्म पुरुषार्थ की श्रेणी में आते हैं। ***'देह के लिए'*** अपने अहं से किए जाने वाले कर्म पुरुषार्थ-कर्म नहीं हैं। जब यह ज्ञात हो जाएगा, कि क्यों ईश्वर का ध्यान करें, उसका ध्यान करने और विभिन्न पुरुषार्थ कर्मों से हमें क्या लाभ होगा? **तो उसका ध्यान करना स्वयं ही आ जाएगा और पुरुषार्थ के अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, इन चारों सोपानों पर हमारी यात्रा प्रारम्भ हो जाएगी।** मानव के लिए ईश्वर को मानना, ध्यान करना, पूजा, उपासना, जप-तप, यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थ-कर्म इसलिए आवश्यक हैं, ताकि हमारे प्रारब्ध अथवा भाग्य के साथ ईश्वरीय कृपा जुड़ जाए। भाग्य, सौभाग्य बन जाए और हम उसका आनन्दपूर्वक भोग कर पाएँ।

जब हम ईश्वर के विमुख होते हैं, तो उसकी यह सत्ता, समस्त प्रकृति हमारे प्रतिकूल हो जाती है। प्रतिकूलता का प्रकाट्य देह में विभिन्न रोगों, दोषों आदि रूपों में होता है। हमारे जीवन में आधि, व्याधि, उपाधि, भय, विक्षेप, त्रास, असंतुष्टि आदि पीड़ाजनक प्रकरणों के रूप में ईश्वरीय प्रकृति की प्रतिकूलता ही प्रकट होती है। देह स्वयं में मायिक है और समस्त ईश्वरीय माया का संघनित रूप है। **अतः ईश्वर-विमुख होने पर 'दृश्य' आँखों के, 'नाद' कानों के, 'स्पर्श' त्वचा के, 'गन्ध' नाक के और 'स्वाद' जिह्वा के**

प्रतिकूल हो जाते हैं। इस प्रकार माया ही माया के प्रतिकूल हो जाती है। यह सूत्र मानव-देह के लिए ही व्यावहारिक है, क्योंकि मानव-देह पाकर दैवीय कानूनों के अन्तर्गत ईश्वर-विमुख होने की अनुमति नहीं है। पशु जगत ईश्वर के विमुख है और विमुख ही रहता है, लेकिन यह प्रकृति उनका पालन करती है। प्रकृति की सबसे चमत्कारिक रचना मानव-देह है। मानव समस्त प्राणी-जगत का स्वामी है, उन पर नियन्त्रण कर सकता है। प्रकृति में हस्तक्षेप कर सकता है, उससे ऊपर उठ सकता है। मानव को यह प्रतिभा इसलिए मिली थी, ताकि यह प्रकृति से ऊपर उठे। प्रकृति से ऊपर उठने पर पराप्रकृति का क्षेत्र है, जिसे महामाया कहते हैं।

जहाँ तक पुरुषार्थ का प्रथम सोपान **'अर्थ'** है, वहाँ तक देहाध्यास में जीव केवल देह के लिए स्वार्थी बना रहता है और इस स्वार्थ पूर्ति के लिए ही ईश्वर का आश्रय लेता है। इसे पुरुषार्थ क्यों कहते हैं? **क्योंकि हमने स्वार्थवश ही सही उस महाचेतनता का आश्रय तो लिया है।** उसकी कृपा के बिना असंतुष्टि, आसक्ति, अतृप्ति, और-और की चाह, स्पर्धा की भावना, असुरक्षा, भय, विक्षेप आदि के कारण हम आधि, व्याधि, उपाधि रोगों से घिरे रहेंगे। आसक्तियों के कारण ही पुनः पुनः जन्मते-मरते रहेंगे। तो हम ईश्वर को अपने **स्वार्थ** के लिए मानते हैं। उसके सम्मुख हो अपनी विभिन्न भौतिक कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं तथा उनका भोग चाहते हैं। यह स्वार्थ ही **'अर्थ'** नामक पुरुषार्थ का प्रथम सोपान है। स्व+अर्थ, ईश्वर को ध्याने में मेरा कोई अर्थ तो पूर्ण हो, इसलिए मैं ईश्वर की पूजा-उपासना, जप-तप तथा विभिन्न प्रकरण करता हूँ। **अब जो भी कृत्य मेरे द्वारा होते हैं, वे ईश्वर द्वारा अनुमोदित होते हैं, इसलिए पुरुषार्थ के मार्ग पर मेरी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।** यद्यपि अभी मुझे अपने **'पुरुष'** यानि चेतनता के बारे में कोई जिज्ञासा नहीं है। मुझे अभी यह भी ज्ञान नहीं है, कि मेरा कोई सच्चिदानंद स्वरूप भी है। मैं स्वयं को देह मानकर इस देह और इस पर आधारित समस्त जगत के लिए ईश्वर को मानता हूँ। **मैं ईश्वर के सम्मुख होता हूँ, ताकि उसकी प्रकृति मेरे अनुकूल हो जाए और मैं ईश्वर-प्रदत्त प्राप्तियों**

का भोग कर पाऊँ। मेरे द्वारा स्वार्थवश हुए विभिन्न पूजा-प्रकरण तथाकथित भक्ति ही है। ईश्वर की मान्यता, विभिन्न अनुष्ठान, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास आदि केवल अपने विभिन्न स्वार्थों व इच्छाओं की पूर्ति के लिए करता हूँ। लेकिन जीवन मेरी योजनाओं व इच्छाओं से तो चलता नहीं। **कोई इच्छा जब तक पूरी नहीं होती तब तक मात्र एक इच्छा के रूप में रहती है और जब प्रभु-कृपा से पूरी हो जाती है, तो वह रक्तबीज की तरह असंख्य इच्छाओं का रूप धारण कर लेती है।**

इस प्रकार कुछ इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, कुछ नहीं होतीं। जीवन व **देह में** विभिन्न भविष्य खड़ा करके उनको पाने के लिए हम दौड़ते हैं। विभिन्न अनुष्ठान, जप-तप, मन्नतें, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास तक रखते हैं, जबकि भविष्य का अगला पल भी सुनिश्चित नहीं है। देहाध्यास में जीवन में यह **'राग'** ही **'स्वार्थ'** है, जो पुरुषार्थ का प्रथम सोपान **'अर्थ'** है। यदि भौतिक कामनाओं की पूर्ति में जीव अपने अहं से लगा रहता है, कि मैं इतना कर चुका हूँ और मैं आगे भी करके दिखाऊँगा। साल भर में पूरी योजना कार्यान्वित करके इतना लाभ कमा लूँगा। **यह मोह या राग 'अर्थ' नहीं है, यह पशुवत् स्वार्थ ही है।** यदि जीव अपनी कामनाओं को अपने बल-बूते पर पूरा करने का अहं रखता है, तो पशु से बद्तर जीवनयापन पर विवश हो जाता है। मात्र मानव के पास यह ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है, कि वह उस पुरुष से सम्पर्क कर सकता है। पशु यह नहीं कर सकता। हमारी तरह पशु जगत भी 'पुरुष' की प्रकृति का अंग है। उसका नियमन, संचालन, रक्षा आदि प्रकृति ही करती है। प्रकृति का जितना क्षेत्र है, जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा इनके द्वारा निर्मित मानव के अतिरिक्त जितना प्राणी-जगत है, वह प्रकृति के ही अधीन है। इन्हें ईश्वर की न कोई धारणा थी, न है और न हो सकती है। अतः इनका सम्पूर्ण भरण-पोषण प्रकृति ही करती है। पशु, पक्षी, कीड़े, मकौड़े आदि भी ईश्वर की ही इच्छा से बने हैं। ईश्वर की सृष्टि में हरेक का अपना-अपना महात्म्य है। कई वायरस और बैक्टीरिया तो नग्न नेत्रों से देखे भी नहीं जा सकते, लेकिन वे भंयकर रोगों

का कारण बनते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण शासन ईश्वर का होता है, लेकिन मानवेतर प्राणी-जगत की देखभाल, पालन व संहार प्रकृति ही करती है। **मानव-देहधारी जीव, जो ईश्वर-विमुख हो जाते हैं, वे भी इसी निम्न श्रेणी में आते हैं।**

हम इस प्रकार भागते-दौड़ते जो भी प्राप्त करते हैं, उसकी सुरक्षा के विषय में चिन्तित रहते हुए, भयभीत रहते हैं। **भागकर, भयभीत होकर जो कुछ प्राप्त होता है, उसके भोग का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।** ईश्वर का सहारा लेकर जो वस्तुएँ मिलीं, उनका तो कुछ भोग मिल जाता है। वस्तुएँ, पदार्थ मिलते हैं, समाप्त हो जाते हैं, लेकिन इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं। **लेकिन इस प्रकरण के साथ ही ईश्वर के पास बैठते हुए, उसे स्वार्थवश ध्याते हुए, ईश्वर का चस्का पड़ जाता है। तो जीव प्रभु से अब अपनी इच्छाओं की उपरामता चाहता है।** जब भी आप उस पुरुषोत्तम से जुड़ते हैं, तो पुरुषोत्तम से जुड़ने के पीछे आपकी नीयत क्या है? क्या आप उससे उसकी प्रकृति या सत्ता के लिए जुड़े हैं? क्या आप उससे उसकी भगवत्ता या पराशक्तियों के लिए जुड़े हैं? अथवा आप उससे केवल उस पुरुष के लिए ही जुड़े हैं? किसी भी नीयत से यदि आप उस पुरुष से जुड़ गये (वह पुरुष जो हमारी अपनी ही चेतन सत्ता, हमारा सच्चिदानंद स्वरूप है) तो आप पुरुषार्थी तो हो गए। **जहाँ आपने किसी नाम में, रूप में, अनाम में, अरूप में उस पुरुष का मंत्र द्वारा, यंत्र-तन्त्र द्वारा अथवा किसी भी प्रकार से उसकी आराधना, उसकी प्रकृति या माया के लिए भी की, तो यह स्वार्थ होते हुए भी पुरुषार्थ का प्रथम सोपान 'अर्थ' है।**

मानव जब ईश्वर का आश्रय ले लेता है, तो ईश्वर की समस्त माया उसके लिए सहायक हो जाती है। पहले धन कमाते थे, अब लक्ष्मी स्वतः प्रकट होती है। जो मैं चाहता था मुझे मिलता रहा, लेकिन मेरी चाहत नहीं गई। जिनकी चाहत थी वे व्यक्ति, वस्तुएँ, धन, सम्पत्ति मिल गई, वो घटनाएँ हो गईं जो मैं चाहता था। वे डिग्रियाँ व पद-प्रतिष्ठा सब मिल गईं। लेकिन फिर भी चाहत नहीं गई। **चाहत मेरी थी, इसलिए वो मात्र मुझे चाहती थी,**

यह मैं नहीं जानता था। मेरी चाहत को मैं तो नहीं मिला, इसलिए अनेकानेक वस्तुएँ व भोग-पदार्थ मिलने पर भी चाहत समाप्त नहीं हुई। यह चाह ही मुझे सद्‌गुरु के दरबार में ले जाती है, कि ''प्रभु ! मैं नहीं जानता कि मैं क्या चाहता हूँ? मैं जो चाहता था, सब कुछ मिल गया। कुछ मिलकर सिरदर्दी बन गया, कुछ मिलकर चला भी गया, लेकिन मेरी चाहत नहीं मिटी, मैं क्या करूँ?'' सद्‌गुरु बताता है, कि **''बेटा! तेरी चाहत तुझे चाहती है। जिस दिन तू इसे मिल जाएगा तेरी चाहत शान्त हो जाएगी।** तू देह को अपना स्वरूप माने हुए है, इसलिए देह के लिए समस्त सुख-साधन तूने एकत्र कर लिए, लेकिन तेरी देह भी संतुष्ट नहीं हुई। जीवन **'में'** भविष्यों को तूने देख लिया। अब तू जीवन **'का'** भविष्य **'भस्मी'** की अवधारणा कर ले। तुझे भविष्य ओढ़ने की आदत है, तेरा स्वभाव है, तेरी प्रकृति है।''

सद्‌गुरु उसका दिशा-निर्देश करता है, कि तू **जीवन में** भविष्यों की इच्छा कर रहा था, अब तू जीवन-काल में, **जीवन के** भविष्य **'भस्मी'** की इच्छा कर ले। कि ''प्रभु ! मुझे भस्मी बना दो, कि मैं भी होऊँ और भस्मी भी हो, क्योंकि मैं अपने उस भविष्य का भी आनन्द लेना चाहता हूँ। शेष भविष्य पूरे होते रहे, लेकिन मेरी कामनाएँ समाप्त नहीं हुईं।'' तो प्रभु-कृपा से यदि आप भस्मी से आत्मसात् हो गए, तो उस तत्त्वातीत तत्त्व की अवधारणा परिपक्व होते ही आपमें विभूत्यातीत विभूति **वैराग** जाग्रत हो जायेगा। वैराग जाग्रत होने पर जीव पुरुषार्थ के द्वितीय सोपान **'धर्म'** पर पहुँच जाता है। वास्तविक मानव-धर्म यह वैराग की स्थिति है। **धर्म आपकी वह भौतिक आध्यात्मिक अवधारणा है, जो आपके जीवन को पूर्ण अनुशासित करते हुए मोक्ष तक ले जाती है।**

मानव का अन्तिम **धर्म, वैराग** है। जो पुरुषार्थ का दूसरा सोपान है। **'धारयति इति धर्मः'** शास्त्र ने धर्म की परिभाषा दी है, कि जो धारण हो, वह धर्म है। **जीवन का एक भविष्य है, जो निश्चित है और जीवन से बाहर है।** उस भस्मी की जब मैं जीते जी अवधारणा करता हूँ और

सद्गुरु-कृपा से वह अवधारणा परिपक्व हो जाती है, तो वैराग धारण हो जाता है। **जो धारण हो, वह धर्म है।** अतः वैराग ही मानव-धर्म है। इसके बाद पुरुषार्थ के दो सोपान रह जाते हैं **'काम'** और **'मोक्ष'।** जीवन के इस भविष्य की अवधारणा इसे वैरागी बना देती है। वैराग ईश्वर की विभूत्यातीत विभूति है। अब परिवर्तन यह हुआ, कि ईश्वरीय सत्ता की जिन विभूतियों की लालसा में यह पहले वस्तुओं के पीछे भाग रहा था, अपनी स्वरूपगत सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति आदि विभूतियों को जीव पदार्थों में ढूँढ रहा था, क्योंकि इसने स्वयं को देह माना हुआ था, अब वे विभूतियाँ अपने मूल रूप में स्वतः इससे प्रकट होने लगती हैं। क्योंकि इसका अपना ही स्वरूप था, जो इन विभूतियों से युक्त था। वैराग को उपेक्षित कर इन्हीं विभूतियों की लालसा की दौड़ में जीव अपने स्वरूप से वंचित हो भटकने लगता है।

पहले हम Means के पीछे Mean बन गए थे, अब Means हमारे पीछे आने लगे। भाग-दौड़ समाप्त हो गई और वस्तुओं का भोग भी होने लगा। लेकिन भोग करते-करते भोगों से भी इसे अरुचि हो जाती है। यह सोचता है, कि भोग भी कहाँ तक करने हैं, देह व इन्द्रियों की भोग-क्षमता भी सीमित है और देह भी नश्वर है। **इसको आभास हो जाता है, कि देह भोग करने के लिए तो मिली नहीं थी। अब धीरे-धीरे ईश्वर की कामना जाग्रत हो जाती है, कि ''प्रभु ! यह सब बहुत हो गया अब तुम कहाँ हो?'' यहाँ जीव पुरुषार्थ के तीसरे सोपान 'काम' की ओर प्रवृत हो जाता है। इसमें ईश्वर की भक्ति जाग्रत हो जाती है।** ईश्वर की पूजा, उपासना यह पहले स्वार्थवश वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ही करता था। **'अर्थ'** के सोपान पर भी **'ईश्वर'** से सम्पर्क साधता था, लेकिन वह भक्ति नहीं थी। फिर इसमें इच्छाओं की इच्छा समाप्त करने की इच्छा जाग्रत हुई तो संत-कृपा से **जीवन में भविष्यों** के स्थान पर **जीवन का भविष्य** (भस्मी) इसकी अवधारणा में आया। अब यह पुरुषार्थ के दूसरे सोपान धर्म अर्थात् वैराग की स्थिति में पहुँचा। वैराग होने पर ही वास्तविक भक्ति जाग्रत हुई। अब इसे

ईश्वर की कामना हुई और पुरुषार्थ के तृतीय सोपान **'काम'** में इसकी प्रवृत्ति हुई।

ईश्वरीय सत्ता की विभूतियों से इसे वैराग हो गया। वास्तव में एक के बाद एक अपनी ही इच्छाओं और स्वार्थों से यह तंग आ गया था और इच्छाओं से उपराम होना चाहता था। यह जीवन के अन्तिम भविष्य **'भस्मी'** से आत्मसात् होने की इच्छा प्रभु के सामने रखता रहा। फिर देखा कि वस्तुएँ तो स्वतः इसके चरणों में आने लगीं तो इसे ईश्वरीय प्रकृतिगत समस्त सत्ता से वैराग हो गया। अब ईश्वर की कामना जाग्रत हो गई और समस्त समय में ईश्वर का भजन-चिन्तन, ध्यान, लीला आदि चर्चा में इसे आनन्द आने लगा।

मात्र ईश्वर की कामना का नाम **'काम'** है। पुरुषार्थ का तीसरा सोपान **'काम'** निश्चित रूप से यही है। अन्य काम व इच्छाएँ तो पशुओं में भी होती हैं। तो क्या उन्हें हम पुरुषार्थी कह सकते हैं? पशु-पक्षियों में भी कामनाएँ होती हैं। **महाकाम, पूर्णकाम, सच्चिदानंद, परमात्मा की कामना ही 'काम' है, जो अन्य कामनाओं और सुखों का स्रोत है। उसकी कामना जाग्रत होने पर ही जीव पुरुषार्थ के तृतीय सोपान 'काम' पर पहुँचता है।** उस पूर्णकाम, महाकाम के स्रोत, अपने इष्ट के अतिरिक्त उसे और किसी की कामना नहीं रहती। वह उसकी झलक चाहता है, किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से।

यहाँ पराशक्ति अथवा भगवत्ता उसके और ईश्वर के मध्य आ जाती है। ईश्वर जानना चाहता है, कि यह मुझे चाहता है अथवा मेरी भगवत्ता को चाहता है। **यहाँ भक्ति के चार रूप हैं—क्रिया, संज्ञा, विशेषण और विशिष्ट-विशेषण।** पहले भक्ति, क्रिया होती है, कि ईश्वर की चाह में जीव अनेक पुरुषार्थ-कर्म जप-तप, साधना-उपासना, यज्ञ-हवन, पूजा-प्रकरण करता है। क्रिया रूप में भक्ति करते-करते, अपने आराध्य में डूबते-डूबते वह **भक्त भी** बन जाता है। यहाँ भक्ति, **संज्ञा** बन जाती है। परम इष्ट-कृपा से इसके बाद भक्ति, **विशेषण** बनती है। भक्ति की विशेषता उसमें झलकने

लगती है और वह **भक्त ही** बन जाता है। भक्ति के अगले सोपान पर उसे अपने विशिष्ट इष्ट की भक्ति मिल जाती है। जहाँ भक्ति विशिष्ट-विशेषण बन जाती है, कि **ये अनुपम रामभक्त हैं।** कि ये **शिव-भक्त** हैं अथवा ये **कृष्ण-भक्त** हैं, आदि-आदि।

उसके इष्ट की निजी भगवत्ता **'महामाया'** उसकी नीयत जाँचती है। उसके आगे ईश्वर की समस्त भगवत्ता की विभूतियाँ रख देती है, जिनके द्वारा प्रभु सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करते हैं। प्रकृति के नियमों को बदलने की शक्तियाँ उसे मिलने लगती हैं। यहाँ बहुत बड़े-बड़े सिद्ध तपस्वी भी ईश्वर को भूल, उसकी भगवत्ता की ऋद्धियों-सिद्धियों में उलझ जाते हैं। 'रामचरित मानस' में देवर्षि नारद की कथा इस बात की पुष्टि करती है, कि उन्होंने दैहिक काम पर विजय प्राप्त की, अनेक अप्सराएँ और सुन्दरियाँ भी उन्हें साधनाच्युत नहीं कर सकीं, तो उन्हें वैराग मिल गया। समस्त ईश्वरीय सत्ता से उन्हें वैराग तथा उपरामता हो गई। लेकिन यहाँ प्रभु की भगवत्ता ने मायानगरी की रचना की और नारद जी को विश्वमोहिनी की चाह हो गई। वे प्रभु से अपना रूप देने की माँग कर बैठे, ताकि उस विश्व सुन्दरी को पा सकें। ईश्वर की कामना के स्थान पर वे सुन्दरी की कामना में लिप्त हो गए। महामाया के क्षेत्र में आकर नारद जैसे जपी-तपी, जिन्होंने समस्त सांसारिक, मायिक कामनाओं पर पहले विजय प्राप्त कर ली थी, वो भी उलझ गए। इसलिए ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि की पुष्टि एवं प्रमाणिकता व सत्यापन महामाया या पराशक्ति ही करती है:—

''ज्ञान वैराग्य सिद्धयर्थं भिक्षां देहु माँ पार्वती''

महामाया प्रभु और साधक के मार्ग में अनेक पराशक्तियाँ तथा ईश्वर की निजी विभूतियाँ रखकर बहुत बड़ी बाधक बनना चाहती है। यदि आप प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहते तो प्रभु का **अनुराग** अथवा **मोक्ष** भी यह महामाया ही प्रदान करवाती है। कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों के नायक की झलक पाने के लिए महामाया के सम्मुख नतमस्तक होना तथा भक्ति आदि प्रकरणों का समस्त अहं विगलित होना परमावश्यक है। **भक्ति** जब

'क्रिया रूप' में की जाती है, तो ईश्वरीय **भगवत्ताओं की लालसा** साधक में रहती है। **'संज्ञा रूप'** में उन **शक्तियों, सिद्धियों की प्राप्ति** हो जाती है। **'विशेषण रूप'** में उन **ऋद्धियों, सिद्धियों का भोग** मिल जाता है। लेकिन **'विशेष्य-विशेषण रूप'** तक आते-आते भक्ति का समस्त अहं विगलित हो जाता है और साधक मात्र अपने **इष्ट का अनुराग** चाहता है।

महामाया ही यहाँ आपकी सहायता करती है, यदि आपकी नीयत केवल ईश्वर को पाने की है। **महामाया की शक्ति अपनी नहीं है, उस ईश्वर की ही है।** ईश्वर अपनी निजी शक्ति द्वारा साधक की परीक्षा लेता है, कि **यह मुझे चाहता है** या **मेरी शक्तियों को चाहता है।** भक्त जो चाहता है, वह उसे मिलता ही है। आप कहेंगे कि क्या भगवान, भगवत्ता से पृथक् हैं? नहीं, परन्तु साधक किसे चाहता है, यह महत्त्वपूर्ण है। भगवत्ता का अपना अहं है। उसकी प्रमाणिकता, पुष्टि व सत्यापन के बिना आप ईश्वर की झलक नहीं पा सकते। भगवत्ता जब प्रमाणित कर देती है, तो प्रभु स्वयं भगवत्ता द्वारा ही उसे अपना अनुराग अथवा मोक्ष दिलाते हैं। **यहाँ भक्त पुरुषार्थ के अन्तिम सोपान 'मोक्ष' पर** पहुँच जाता है। फिर वह मोक्षार्थी अपनी इच्छानुसार पाँच मोक्षों (सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और कैवल्य) का अधिकारी हो जाता है। यहाँ **भक्ति 'विशिष्ट-विशेषण'** बन जाती है, **क्योंकि अब जीवात्मा को परमात्मा का अनुराग मिल गया। भक्त इष्टानुरागी हो गया।** पहले चार मोक्ष साकार उपासकों के लिए हैं। कैवल्य मोक्ष में ज्योति में ज्योति समा जाती है, कोई लीला नहीं होती:—

''तोहि मोहि भेद कैसा, जल तरंग जैसा।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(25 अक्टूबर 2005)

अनुभूतिगम्य जीवन

मानव-देह मिलना स्वयं में अति ईश्वरीय-कृपा का लक्षण है। जीवन को आपसे बहुत कुछ चाहिए, आप जीवन को कुछ दीजिए। कई निराश लोग कहते हैं, कि ज़िन्दगी ने मुझे कुछ नहीं दिया। अरे ! ज़िन्दगी आपको क्या देगी ! आपको जीवन मिला है। जीवन को कुछ ऐसा दीजिए, कि जीवन छोड़ने के बाद भी जीवन आपको याद रखे। आपका जीवन भी अनुभूतिगम्य यथार्थ जीवन बन जाए।

आध्यात्मिक जगत में यथार्थ देह में अनुभूतियाँ होती हैं। आप किसी भी प्रकरण को देह से करते-करते देह से परे हो जाइए। **'कर-कर' को 'हर-हर' में रूपान्तरित कर दीजिए।** यह पंच-महाभूतों की जो देह है, इसे उसके रसास्वादन की लत लग जाती है। **कहाँ इसने सुख-दुःख भोगे होते हैं और कहाँ आनन्द ! तो यही देह सुखों-दुःखों से परे देहातीत यथार्थ देह हो जाती है। देह को आनन्द की लत लग जाए। आनन्द के रसास्वादन का संकेत यह है, कि देह सुखों-दुःखों को महात्म्य ही नहीं देती, भूल जाती है।**

आनन्द देहातीत है, इसलिए अनिर्वचनीय है। देहातीत का जब देह वर्णन करेगी, तो उसमें अधूरापन रह जाएगा। वह जैसा भी वर्णन करेगी, आनन्द **के बारे में** करेगी। वह आनन्द **का** वर्णन नहीं कर सकती। आनन्द अनुभूति है, तो देह में उस अनुभूति का रसास्वादन होता है:—

''मैं चला शराबख़ाने जहाँ कोई ग़म नहीं है,
जिसे देखनी हो जन्नत, मेरे साथ-साथ आए।''

यह Realisation का Utilisation है। इष्ट-कृपा से हमारा अध्यात्म केवल Realisation तक सीमित नहीं है, बल्कि इस Realisation का हमने देह में Utilisation तक विस्तार किया है। आनन्द Realisation (अनुभूति) है और उस आनन्द का देह में रसास्वादन उस अनुभूति का देह में सदुपयोग है। सुख-दुःख उस वर्तमान में होते हैं, जिसमें हम कुछ देर के लिए भूत और भविष्य भूल जाते हैं। दोनों की कार्यप्रणाली एक इसलिए है, क्योंकि कालान्तर में सुख भी दुःख बनेगा और दुःख, महादुःख बनेगा। इस विषय का सविस्तार वर्णन मैंने **'सुख-दुःख व आनन्द'** शीर्षक प्रवचन में किया है।

वर्तमान के जिन क्षणों में भूत और भविष्य भूला, तो वह भूत व भविष्य के आवरण से अनाच्छादित व जीवन्त वर्तमान कभी सुख बना, कभी दुःख बना। जन्म और मृत्यु के मध्य में काल की भूत, भविष्य और वर्तमान तीन विधाएँ होती हैं। सुख-दुःख में हम भूत, भविष्य भूले, लेकिन काल की एक स्थिति वर्तमान में हम थे। जब तक दैहिक सुख का महात्म्य था, मुझे उस विशुद्ध वर्तमान की तलाश थी, लत थी। **आनन्द में काल की तीनों विधाओं का लोप हो जाता है। सुख-दुःख में भूत और भविष्य भूलते हैं, लुप्त नहीं होते, इसलिए वर्तमान उभर आता है। लेकिन आनन्द में भूत-भविष्य लुप्त हो जाते हैं, इसलिए वर्तमान भी नहीं रहता। आनन्द अकाल है। मेरी देह की वह कौन सी भौतिक अवस्था है, जिसमें वर्तमान भी लुप्त हो जाए। वह अवस्था है, मेरे जीवन का निश्चित भविष्य—भस्मी।**

जो अकाल पुरुष है, वह वर्तमान, भूत और भविष्य से परे है, उसे पाने के लिए तथा अपने सच्चिदानंद स्वरूप की अनुभूति के लिए आपको भी काल की इन तीनों विधाओं से परे होना होगा। आपके भविष्य की कोई योजना न हो, आपको भूत का कोई शोक न हो, आपको वर्तमान में भी कोई परवाह न हो। एक ही वह मार्गरहित, मार्ग है जो आपको देहातीत आनन्द में प्रविष्टि दिलाएगा। आनन्द का मार्ग, मार्गरहित है। किसी भी

मार्ग का प्रारम्भ, मध्य और अन्त होगा, लेकिन आनन्द वह मंज़िल है, जहाँ न प्रारम्भ है और न मध्य व अन्त है। जहाँ मध्य होगा, वहाँ प्रारम्भ और अन्त भी होगा। तो आनन्द देहातीत है, उसकी अनुभूति है। **जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, कि देह को इस Realisation के लिए Utilise करना और Realisation को देह में Utilise करना।** हम देह की प्रत्येक श्वास, प्रत्येक प्राण, प्रत्येक विधा, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक निमिष को किसी भी तरह से और सब तरह से Realisation के लिए उपयोग करें। फिर उस अनुभूति का देह में सदुपयोग करें। **देह से अनुभूति करें और देह में सदुपयोग करें।**

जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ हैं। कल्पना इसलिए नहीं, कि आपने अपना जन्म या मृत्यु नहीं देखी। जैसेकि आपने रामेश्वरम् नहीं देखा, लेकिन रामेश्वरम् कल्पना नहीं है। अरे ! किसी ने तो देखा है और आप भी देख सकते हैं। लेकिन अपना स्वयं का जन्म-मृत्यु तो आज तक न किसी ने देखे हैं और न कोई देख सकता है। इसलिए जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ हैं और इसके मध्य, जीवन में जो हम देख रहे हैं, वह भी अपनी ही विभिन्न कल्पनाओं को कल्पना में ही साकार होते देख रहे हैं।

हम कोई भी कल्पना करें, उसमें काल की तीनों विधाओं में से एक अवश्य होगी। हम काल की किसी न किसी विधा में होंगे। हमारा जीवन हमारी कल्पनाओं का ही बाह्य रूपान्तरण अथवा प्रकटीकरण है। **हम कहते हैं, कि मेरा स्वप्न साकार हो गया। वस्तुतः एक स्वप्न दूसरे स्वप्न में ही साकार हुआ।** जब हम कोई कल्पना करते हैं और कल्पना सत्य रूप में प्रकट हो जाती है अथवा कम-ज़्यादा साकार हो जाती है तो वह काल की तीन विधाओं में होगी—भूत, भविष्य या वर्तमान।

काश ! ऐसा हो गया होता (भूत), काश ! ऐसा हो जाए (भविष्य)। तो उस भूत व भविष्य की हम एक वर्तमान में ही कल्पना कर रहे हैं। जब हम काल की तीनों विधाओं से परे हो जाएँगे तो वे यथार्थ और अकाल-काल होगा। जीवन में जितने भविष्य हैं, यदि वह पूरे भी हो जाएँ

तो भी उनका एक अतीत रहता है। लोग पाकिस्तान से आए और यहाँ आकर करोड़पति बन गए। उनका अतीत है, कि उन्होंने पाकिस्तान से आकर प्रारम्भ में कितना संघर्ष किया। गरीबी के दिन व्यतीत किए। उनका एक अनिश्चित भविष्य भी है। हो सकता है भविष्य में वे अरबपति बन जाएँ अथवा लखपति भी न रहें। पूर्ण इच्छाएँ, भविष्य में अनेक दूसरे भविष्य खड़े कर देती हैं। जैसेकि मैंने बार-बार कहा है, कि कोई इच्छा पूरी न हो तो वह इच्छा बनी रहती है और यदि पूरी हो जाए तो रक्तबीज की तरह अनन्त इच्छाओं का रूप ले लेती है। लेकिन **'भस्मी'** मेरी देह व जीवन का एकमात्र ऐसा भविष्य है, जिसका कोई अतीत व भविष्य नहीं है। क्योंकि पंच-महाभूतों की देह जब भस्मी में परिणत होती है, तो देह ही नहीं रहती। अतः वह अकाल है।

'भस्मी' ऐसा भविष्य है, जहाँ हमारी सब कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। तो उस **अन्तिम कल्पना को कल्पना द्वारा ही काल्पनिक जीवन के मध्य में प्रविष्टि दे दो। सोचो, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। भस्मी अवश्य बनेगी। इसलिए वह कल्पना, काल्पनिक जीवन में अवधारणा बन जाएगी। क्योंकि जन्म और मृत्यु के काल्पनिक जीवन का यह निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य–'भस्मी' जीवन के बाहर है।** जब आप काल्पनिक जीवन में बह रहे हैं, जो स्वयं में कल्पना है, उसमें आप कल्पनातीत-कल्पना, अपनी भस्मी को उतार दीजिए। तो एक बड़े भारी झटके के साथ आपकी समस्त कल्पनाएँ थम जाएँगी। वहाँ पर एक बहुत बड़ी आनन्दमय टक्कर होती है। उसमें एक प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया से आपकी मूल पाँचों विभूतियाँ–सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति जिन्हें आप सांसारिक पदार्थों में देखने के असफल प्रयास में संघर्षरत थे, वे विभूतियाँ स्वयं अपने स्वरूप में प्रस्फुटित होनी प्रारम्भ हो जाएँगी। आप अपने सौन्दर्य को वस्तुओं में, अपने ऐश्वर्य को धन में, अपनी ख्याति को सांसारिक प्रतिष्ठा में, अपनी शक्तियों को अपने जनबल, बुद्धिबल व शारीरिक बल में तथा अपने ज्ञान को किताबी पढ़ाई व

डिग्रियों में अर्जित करने का असफल प्रयास कर रहे थे। ये प्रयास, असफल इसलिए थे, क्योंकि कितना भी सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, धन-सम्पदा, ख्याति अर्जित कर लें, वे आपकी स्वरूपगत विभूतियों की तुलना कर ही नहीं सकतीं। लेकिन अब वे विभूतियाँ अपने मूल रूप में आपसे स्वतः प्रस्फुटित होनी प्रारम्भ हो जाती हैं।

अन्धकार और प्रकाश का प्रकाशक **'मैं'** हूँ। मेरा स्वरूप ज्ञान और अज्ञान दोनों का ज्ञाता है, जो सौन्दर्य को सौन्दर्य देता है, वह मेरा स्वरूप है। इन्हीं पाँच विभूतियों के लिए मैं जन्मों-जन्मान्तरों से भटक रहा हूँ। ये मिलती हैं, लेकिन छूट जाती हैं। जिससे हम मिले हैं, उससे हमें अवश्य बिछुड़ना पड़ता है। तो नश्वर जीवन में हम अस्थाई और नश्वर ही एकत्र करते रहते हैं। कल्पनाओं में, मैं अपनी मूल विभूतियों को सांसारिक वस्तुओं, पदार्थों, प्राप्तियों आदि में देखना चाहता हूँ। सन्तुष्ट इसलिए नहीं होता, क्योंकि जो मेरी मूल स्वरूपगत विभूतियाँ हैं, उनका वह मुकाबला कर ही नहीं सकतीं। **हमें आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि हम अज्ञात या ज्ञात रूप से बहुत बड़े अन्धकार में आगे बढ़े चले जा रहे हैं।** जो न केवल निरर्थक है, बल्कि नकारात्मक भी है। उसका प्रारब्ध रूपी केस चलता है, जो स्वयं में एक कल्पना है। **जीवन को काल्पनिक व्यतीत करने में कल्पनात्मक ही केस चलता है।** काल्पनिक जीवन में हमने हर वस्तु को काल से बाँध दिया। यहाँ तक कि ब्रह्म-मुहूर्त को भी काल से बाँध दिया। अकाल को काल-गणना में ले लिया। अरे ! जब ब्रह्म-चर्चा हो, आपका हृदय आनन्द-विभोर हो, वही ब्रह्म-मुहूर्त है। क्योंकि ब्रह्म-मुहूर्त अकाल है। जिस अवस्था में आप काल की तीनों विधाओं से परे हो जाएँ, उस अवस्था को भी आप काल से बाँधने की भूल करते हैं।

अध्यात्म स्वयं में लक्ष्य है। यह जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन में राह चलते कोई उपलब्धि नहीं है। **जीवन में जो कुछ हमें मिलता है अथवा हम खोते हैं, वह जीवन-मार्ग की स्वाभाविक व स्वतः मिलने वाली प्राप्तियाँ हैं। अध्यात्मिक जीवन में आपका एकमात्र लक्ष्य स्वयं**

को पहचानना होता है 'मैं कौन हूँ' तथा मुझे मानव-देह क्यों मिली है, मैं किसलिए इस धरा पर लाया गया हूँ? यह जानने के लिए दीवाने हो जाएँ, आपे से बाहर हो जाएँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहं आदि आवेशों में भी हम आपे से बाहर हो जाते हैं। **लेकिन ईश्वर को जानने व स्वयं को जानने के लिए आपे से बाहर होना और काम क्रोधादि विकारों के वशीभूत होकर आपे से बाहर होना, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।** जब सांसारिक विकारों के वशीभूत होकर व्यक्ति आपे से बाहर होता है, तो उसका अपना आपा ही उसे आपे से बाहर करता है। उसके स्वार्थ व दैहिक लालसाएँ ही उसे पागलपन के आचरण पर विवश करती हैं। उसकी स्वार्थी वृत्तियों ने ही उसे आपे से बाहर किया। **यह आपे से बाहर होना, आपे के लिए ही हुआ।** आपको किसी पर कभी-कभी आवश्यकता से अधिक क्रोध आ जाता है, क्योंकि उसने आपके 'सैल्फ' या आपे को चोट पहुँचाई। यह क्रोध आपको गर्त में ले जाएगा।

आपको लोभ है। अपनी 'सैल्फ' के लिए अथवा अपनी उस लोभी वृत्ति को तुष्ट करने के लिए आप, आपे से बाहर हो गए। सन्तान या पति अथवा पत्नी से मोह है, तो आपे से बाहर हो गए, कि 'मेरे बच्चे को किसी ने कैसे मारा, मैं देख लूँगा।' You go out of self for the sake of self. वह आपे से बाहर जाना पतन की ओर ले जाता है। इन्हीं को विकार और नरक का द्वार कहा जाता हैः–

''***काम, क्रोध, मद, लोभ सब नाथ नरक के पन्थ।***''

हमारा एक आपा अथवा व्यक्तित्व है, जो नाम-रूप की देह से सम्बद्ध है, क्योंकि हमने स्वयं को वह देह ही मान लिया है। तो हम इस आपे के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहं, मद आदि आवेशों में इसी के स्वार्थवश सन्तुलन खो बैठते हैं। **जब हम आपे से बाहर इसी आपे के लिए हुए तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहं, मद आदि सब विकृतियाँ बन गए।**

आप अपनी छोटी सी नाम-रूप की तुच्छ सी 'सैल्फ' में कितना

घूमोगे! एक माँ-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी, बच्चे, मित्र-शत्रु। आपने स्वयं को अपने नाम-रूप की तुच्छ सी चेतना में क्यों बाँध लिया? इतने छोटे से दायरे में अपना अमूल्य जीवन बरबाद करने के लिए आपको मानव-देह नहीं दी गई है। **अपने छोटे से आपे को सँजोने के लिए आप कितना निरर्थक व नकारात्मक जीव-सृष्टि का विस्तार करते रहते हैं।** न जाने कब जीवन का अन्त हो जाए। आप अपनी समस्त ईश्वर-प्रदत्त बौद्धिक, दैहिक और मानसिक शक्तियों को इस जीव-सृष्टि के रख-रखाव व पोषण के लिए झोंक देते हैं। न कोई साथ आया है, न साथ जाएगा। देह का भी पता नहीं कल होगी या नहीं। जीवन में कोई आपके अंश से पैदा हो गया, कई अन्य सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। आप किन-किन सम्बन्धों का निर्वाह करेंगे। **जो आपके आपे अथवा एक नाम-रूप की देह की पहचान से बाहर जाने में सहायक हों, उन्हें अपना मानिए। जो इस मार्ग में बाधा बन जाए, उसे अपने मानस से हटा दीजिए।** इसके लिए पहले आपको Realise करना पड़ेगा, कि आपकी किसी को आवश्यकता नहीं है। आपके पैदा होने से पहले भी जगत चल रहा था और आपकी मृत्यु के बाद भी चलता रहेगा। इसका अर्थ है, दैहिक व भौतिक रूप से आपकी कोई आवश्यकता नहीं है। **जिसको आपकी आवश्यकता है भी, उसे स्वार्थवश अपने लिए आपकी आवश्यकता है।** कितने बड़े-बड़े लोग, शासक, नेता चले गए, संसार वैसे ही चल रहा है। इस 'सैल्फ' से बाहर आने के लिए भी एक जनून तथा पागलपन चाहिए। **आप अपना यह आपा खोने के लिए आपे से बाहर हो जाएँ। वहाँ आपके भीतर से ही भगवत्ता का प्राकट्य हो जाता है।**

आध्यात्मिक जगत में आप, अपने नाम-रूप की देह के आपे से बाहर होने और एकान्त की स्थिति के लिए भी आपे से बाहर हो जाते हैं। भाड़ में गई नौकरी, रिश्तेदार, पद-प्रतिष्ठा आदि। यह सब तो पिछले जन्मों में भी होता रहा होगा। कभी बाप बीमार है, कभी पत्नी रूठी हुई है, कभी बच्चों के विवाह-शादी हैं, कहीं कोई मर गया। अरे ! इसी में सारा जीवन बरबाद

कर देंगे ! इस जीवन का अर्थ क्या है? **यह जीवन तभी तक है, जब तक नाम-रूप की एक देह मेरे साथ है। अरे ! सोते हुए भी तो यह सब कुछ छूट जाता है। मैं आखिर कर क्या रहा हूँ? मैं हूँ कौन?** यह भाव जब जनून बन जाता है, तब भी व्यक्ति आपे से बाहर हो जाता है। **यहाँ आपे से बाहर वह अपनी 'सैल्फ' को हटा कर और हटाने के लिए होता है।** हे प्रभु ! मुझे भस्मीभूत कर दो, चाहे मेरे प्राण ले लो। मैं, मैं न रहूँ। आप उससे जुड़ने के लिए स्वयं को समाप्त करना चाहते हैं।

जब आप अपनी 'सैल्फ' को हटाकर अथवा हटाने के प्रयास में आपे से बाहर होते हैं, तो वह वैकुण्ठ का मार्ग है। आपके और आपके इष्ट के मध्य में कोई कामिनी, कंचन व सांसारिक सम्बन्ध आदि न आएँ। इसके लिए भी क्रोध करना पड़ेगा, आपे से बाहर होना होगा। **आपके इष्ट और आपके मध्य जो कुछ भी आए, वह आपका सहायक हो और आप उससे आश्वस्त हो जाएँ, नहीं तो हटा दीजिए।** अतः अपने नाम-रूप की पहचान के तुच्छ व संकीर्ण आपे से बाहर जाने के लिए काम, क्रोध आदि ये तथाकथित विकार ही सुकृतियाँ बन जाते हैं। सांसारिक आसक्तियों का ही ईश्वरीय **भक्ति** में रूपान्तरण होता है। यही भक्ति, पुरुषार्थ का तृतीय सोपान **'काम'** है। योगी आपे से बाहर जाने के लिए काम, क्रोध आदि सुकृतियों का अवलम्बन लेकर आपे से बाहर जाता हैः–

''जरहु सो सम्पति, सदन, सुख, सुहृद, मातु-पितु-भाई,
सन्मुख होत जो राम-पद, करे न सहस सहाइ।''

अर्थात् वह धन-सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता-पिता-भाई आदि जल जाएँ, जो मेरे इष्ट राम के सम्मुख होने में मुझे हज़ार गुणा सहायता न दें। विरोध में आने वालों की तो बात ही नहीं है, अपितु वही देह और देह पर आधारित जगत मेरे साथ रहे, जो ईश्वर-सम्मुख होने में मेरा सहायक हो। इस प्रकार अपनी देह से परे हटने के लिए और राम के सन्मुख होने के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विकार रहते ही नहीं, ये **दिव्य उत्प्रेरक** बन जाते हैं। कोई भी सांसारिक मोह उसके व उसके इष्ट के

मध्य आए, तो क्रोध आदि तथाकथित विकारों का अवलम्बन लेकर योगी उन्हें अपने मार्ग से हटा देता है। उसे लोभ होता है, तो केवल ईश्वर के नाम का लोभ होता है। वह किसी दूसरे नाम-रूप को चाहता ही नहीं। उसे ईश्वर से मोह होता है, क्योंकि वह समस्त सांसारिक मोह व आसक्तियाँ छोड़ना चाहता है। उसे अहंकार होता है, कि **''मैं, केवल मैं ही ईश्वर की इकलौती सन्तान हूँ।''** संसार के समस्त अहंकारों से परे हटने के लिए वह यह अहं रखता है। कामना उसे केवल अपने इष्ट की होती है। ये पाँचों विकार तब हैं, जब ये हमें आपे में घसीटते हैं। **नाम-रूप की पहचान के आपे से पैदा हुए, आपे के लिए हम, आपे से बाहर हुए अथवा उस नाम-रूप की पहचान का आपा समाप्त करने के लिए हम आपे से बाहर हुए, यह जानना आवश्यक है।** पल-पल आत्मनिरीक्षण करिए। नशा व जुआ स्वयं में विकार हैं, आपे से बाहर जाने के लिए ये ही सुकृतियाँ बन जाती हैं। ईश्वर के नाम का नशा बिन पिए ही आनन्द में सराबोर रखता है। जुआ खेलना है, तो पहले अपनी नाम-रूप की 'सैल्फ' को ही दाँव पर लगा दोः–

''बहुत जनम जिए रे माधो, ये जनम तेरे लेखे।''

यह भी एक जुआ है। एक जुए में व्यक्ति अपनी धन-सम्पत्ति दाँव पर लगाता है। पाण्डवों ने अपनी स्त्री दाँव पर लगा दी थी। एक जुए में अपनी देह दाँव पर लगाता है। इस प्रकार योगी और भोगी दोनों ही आपे से बाहर जाते हैं। **योगी, भोगों को भोगता है और भोगी को भोग भोग जाते हैं। भोगों का भोग करना ही योग है।** यह सरस-साधना है। यही अनुभूतिगम्य जीवन है।

हमें सजग रहना होगा। जो ईश्वर करवा रहा है और जो प्रारब्धवश भी हमारे द्वारा हो रहा है, उसमें भी भ्रमित नहीं होना। हम उसके लिए कम से कम ईश्वर से प्रार्थना तो कर ही सकते हैं। तो इस प्रकार पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर से जुड़ने से हमारे प्रारब्ध में पाँच प्रकार के रूपान्तर होते हैं, जिनका वर्णन मैं **'स्वार्थ और परमार्थ'** शीर्षक प्रवचन में

कर चुका हूँ। ईश्वर हमारे प्रारब्ध का रूपान्तरण करेगा, मुश्किल व कठिन प्रारब्ध को आसान व सहनीय कर देगा या परिवर्तित कर देगा। कुछ प्रारब्ध में न होते हुए भी दिला देगा, कष्टों को Fast forward कर देगा और अति कृपा होने पर पूरा प्रारब्ध ही हटा देगा। हमारा प्रारब्ध तब बनता है, जब हम जन्म और मृत्यु से बँधी काल्पनिक देह को 'मैं' मानकर ईश्वर-विमुख हो जाते हैं। ईश्वर के सम्मुख होने पर अति कृपावश हमारे जीवन की बागडोर पूरी तरह से ईश्वर अपने हाथ में ले लेगा। **प्रारब्ध और सुख-दुःख भी कल्पना ही हैं, तो उससे बाहर आने के लिए देह का सदुपयोग करना है।**

देह का प्रयोग, देह से परे आनन्द की स्थिति में जाने के लिए करना है और फिर उस अनुभूति का देह में उपयोग करना है। उसका देह द्वारा रसास्वादन करना है। हवाई जहाज पृथ्वी का प्रयोग पृथ्वी से उड़ने के लिए करता है और फिर पृथ्वी पर ही उतरता है। इसी प्रकार देह का सदुपयोग देह से परे जाने के लिए करें और देह में लौट कर फिर उस आनन्दानुभूति का रसास्वादन करिए। देह भी हमारा स्वागत करेगी, क्योंकि हम देह के मायके से आए हैं। देह के स्वामी से सम्पर्क करके आए हैं। **शराब पीकर भी व्यक्ति देह से परे जाता है, लेकिन वह देह का प्रयोग मात्र देह से परे जाने के लिए करता है, ताकि कुछ देर के लिए देह को भूल सके। वह देह को उपेक्षित करता है।** तो वापिस जब देह में आता है, तो देह और भी घृणा करती है। यदि देह का सामना न कर पाने के कारण, देह को छोड़ने के लिए हम देह से परे जाते हैं, तो देह हमारे विरुद्ध हो जाती है। जब हम चिन्तन-मनन, ज्ञान-समाधि, जप-तप, यज्ञ-हवन द्वारा ईश्वर से जुड़ने के लिए देह से परे जाते हैं तो वापिस लौटने पर देह सुरभित हो जाती है, स्वागत करती है, नृत्य करने लगती है और उस आनन्दानुभूति का देह रसास्वादन करती है।

योगी और भोगी दोनों देह से परे जाते हैं। भोगी देह से तंग आकर देह से परे जाता है। योगी जहाँ से देह प्रकट हुई उस मूल स्रोत अपने

ईश्वरीय स्वरूप में जाने के लिए देह से परे जाता है, तो देह प्रसन्न होती है। जहाँ देह व इन्द्रियों की सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ से योगी इन्द्रियों का सदुपयोग आनन्दानुभूति के लिए करता है। योगी भोग को भोगता है, क्योंकि भोगों को आनन्द तो उसने देना है। वह इस मायिक संसार को स्वप्नवत् देखते हुए उसका स्वाद लेता है। **जिस देह द्वारा Realisation होता है और Realisation का Utilisation जिस देह में होता है, वे दोनों देह पृथक्-पृथक् हैं। मैंने Realisation के लिए Utilise की जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह और उस Realisation का रसास्वादन मैंने यथार्थ देह में किया।** मैंने जन्म और मृत्यु के मध्य बँधी काल्पनिक देह, अपनी स्वाभाविक प्रकृति से कल्पना करके, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ' कल्पना में भस्मित की। क्योंकि मैंने कल्पना के अन्त को जन्म-मृत्यु के जीवन-काल के मध्य के काल्पनिक जीवन में अवधारित कर लिया। ऐसा करते-करते मैंने उसी काल्पनिक देह से अनुभूति कर ली, कि 'मैं विशुद्ध जीवात्मा हूँ' जो ईश्वर का अंश है। **अब जिस देह में मैं उस अनुभूति का रसास्वादन कर रहा हूँ, वह देह काल्पनिक नहीं है, वह यथार्थ देह है।**

काल्पनिक देह का उपयोग मैंने स्वयं अपने स्वरूप की अनुभूति के लिए किया और फिर रूपान्तरित यथार्थ देह में उस अनुभूति का सदुपयोग किया। उस आनन्द-स्वरूप का रसास्वादन किया। **जब जन्म-मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधी तथाकथित मेरी देह थी, तो 'मैं' खो गया था। उस देह को खोकर मैंने स्वयं को पा लिया। अब 'मैं' उस यथार्थ देह में हूँ, जो सबकी एक ही है। (काल्पनिक देह तो अनेक हैं) वह देह मेरे आनन्द के लिए है। इसी देह में 'मैं' खोया था और इसी देह से 'मैं' स्वयं को पा जाता हूँ। अब 'मैं' सबमें विचरता हूँ, सब मुझमें विचरण करते हैं और तभी 'मैं' अपने यार की झलक पाने का अधिकारी होता हूँ। काल अपनी विभिन्न विधाओं से मेरा मनोरंजन करता है। किसी कायदे-कानून से 'मैं' नहीं बँधता।** महापुरुष यथार्थ देह

में उतर कर अपना रास्ता स्वयं बनाते हैं। उनकी **'मैं'** का विस्तार अनन्त होता है। युगों-युगान्तरों तक लोग उनका अनुसरण करते है:—

''चल पड़े जिधर दो पग डग में,
चल पड़े कोटि पग उसी ओर।
जिसके सिर पर निज धरा हाथ,
उसके सिर रक्षक कोटि हाथ।
जिस पर निज मस्तक झुका दिया
झुक गए उसी ओर कोटि माथ।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(1-3 अक्टूबर 2005)

काल-चक्र

(भाग – 1)

आज आप समस्त अति विशिष्ट जिज्ञासुओं के सम्मुख एक परम दुर्लभ, अद्‌भुत एवं अति गोपनीय विषय का रहस्योद्‌घाटन करूँगा, विषय है—**'काल-चक्र'।** इस काल-चक्र में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड युगों-युगान्तरों से भ्रमित होता हुआ, घूम रहा है। इस परम शिवमय विषय का अति एकाग्रता एवं पूर्ण श्रद्धापूर्वक श्रवण ही आपको काल-चक्र से बाहर निकाल देगा।

पंच-प्राणों का पुंज सच्चिदानंद ईश्वर स्वयं में निराकार, अकाल और तत्त्वातीत है। ईश्वर के पाँच प्राणों—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की प्रतिच्छाया पंच-महाभूत हैं, जो क्रमशः अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल एवं आकाश के रूप में सहज जड़ एवं निराकार तत्त्व हैं। इन्हीं पंच-तत्त्वों में विभिन्न अनुपातों के संगम से यह समस्त साकार व काल-बद्ध चराचर सृष्टि दृश्यमान होती है। पंच-तत्त्वों में निर्मित, पालित व संहारित इस समस्त साकार, दृश्यमान प्रकृति का अधीश्वर व स्वामी सच्चिदानंद परमात्मा स्वयं में निराकार, अदृश्य, अकाल और तत्त्वातीत है। **वह ईश्वर ही अपने विशुद्ध अंश जीवात्मा के रूप में इस सत्ता का अधिष्ठाता है, जिसका सिंहासन सत्य एवं यथार्थ है।** ईश्वर एक है और जीवात्मा भी एक ही है। जीवात्मा को पंच महाभूतों द्वारा निर्मित एक मानव-काया दी गई। इस देह का अवलम्बन लेकर इसे ईश्वर की अनुपम, परम विलक्षण संसार महा नाट्यशाला का आनन्दपूर्वक दिग्दर्शन करते हुए अपने स्वरूप, सच्चिदानंद ईश्वर की वाह-वाह करनी थी। लेकिन इस देह को अपने साथ पाने पर जीवात्मा को

भ्रम हो गया, कि 'मैं देह हूँ' और 'देह मेरी है'। **देह को अपना स्वरूप मानने के कारण जीवात्मा अपने ईश्वरीय स्वरूप से विलग सी होकर एक नाम-रूप की देह में ही तुच्छ सी जीव बन गई। जीव बनकर यह भ्रमित हुई जीवात्मा अपने सत्य ईश्वरीय अंश तथा देह के यथार्थ दोनों को खो बैठी।** देह के साथ तद्रूप होकर जीवात्मा अपना जन्म और मृत्यु मान बैठी तथा इन्हीं दो छोरों के मध्य के जीवन में अपनी जीव-सृष्टि रचने लगी।

जन्म और मृत्यु के बीच, काल में बँध कर, जीवात्मा जीव बनकर ऐसे काल-चक्र में घूमने लगी, जो इसकी अपनी काल्पनिक जीव-सृष्टि थी। एक असत्य मान्यता व भ्रम **'मैं देह हूँ'** से यह सत्य स्वरूप जीवात्मा, असत्य और काल्पनिक इन्द्रजाल में फँसती ही चली गई। जीवात्मा, जीव या बन्दा बनकर एक अज्ञात काल्पनिक व अनिश्चित काल में बहने लगी, जो कभी समाप्त नहीं होता, जन्म-दर-जन्म, युगों-युगान्तरों में चलता रहता है। **करोड़ों ब्रह्माण्डों की निधियों के स्वामी की इकलौती सन्तान, उस शहंशाह का इकलौता मानस-पुत्र जीवात्मा पंच-महाभूतों की एक देह पर अधिपत्य करके एक तुच्छ जीव बन गई। वह युगों-युगान्तरों के काल-चक्र में भटकने लगी। यह काल अपने विकराल स्वरूप के साथ इसके गले पड़ गया। चारों युग, महायुग, कल्प, प्रलय के रूप में काल, एक महाविस्तृत स्वरूप में अनंत बनकर इसे घुमाने लगा। वह काल जो काल्पनिक देह और कल्पना की जीव-सृष्टि में था, जिसका स्वयं में कोई अस्तित्व ही नहीं था।** उसका भी विस्तार इतना हो गया, कि जिसका कोई आदि-अन्त ही नहीं था।

जीवात्मा स्वयं में अकाल थी, कालातीत थी। काल विभिन्न विधाओं व रूपों में इसके भीतर विचरता, लेकिन यह अपनी ही बनाई जीव-सृष्टि के काल-चक्र में भटकने लगी। काल के विभिन्न रूप, विभिन्न युग, इसकी क्रीड़ाएँ थीं, लेकिन यह उनके हाथ का तमाशा बन गई। ब्रह्मा का एक दिन अकाल में है और ब्रह्मा का वह एक दिन ही इसके लिए विकराल बन गया। विभिन्न युग जो इसके भीतर विचरते थे, यह उनमें विचरना शुरू

हो गयी। जीवात्मा की आयु का तो काल में भी कोई अन्त नहीं है, अथाह है। लेकिन एक नाम-रूप की देह को **'मैं'** मानकर जन्म और मृत्यु के मध्य के काल-चक्र में फंस गई। हमारे समस्त वेद-शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, श्रुतियाँ तथा ग्रन्थादि इस काल-चक्र से निकालने के लिए ही हैं।

आज तक पूरे ब्रह्माण्ड में किसी ने अपना स्वयं का जन्म और मृत्यु न देखी है और न देख सकता है। इसलिए जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधी देह व जीवन काल्पनिक ही हैं। हम सब जीवन में निश्चित रूप से गहन अन्धकार ढो रहे हैं। उसी काल्पनिक जीवन में तथाकथित कर्मठ, परोपकारी, समाजसेवी, कर्मयोगी और न जाने क्या-क्या बने हुए हैं। देखिए हमारी मान्यता का आधार कितना निराधार व असत्य है। हमारी समस्त मान्यताएँ, धारणाएँ, मर्यादाएँ काल्पनिक ही हैं, क्योंकि काल्पनिक जन्म-मृत्यु के मध्य के काल-चक्र का अंग हैं। हम इसी काल्पनिकता में यथार्थ की खोज में पंच-महाभूतों में बँधी देह व जीवन को ढोते रहते हैं। तथाकथित जीते हैं, मरते हैं, पुनः जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं। जन्म और मृत्यु के एक काल-चक्र में भी कितने-कितने रूप बदलते हैं और कष्टों में घिरे हुए पाप-पुण्य, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मिलन-विछोह आदि में भटकते रहते हैं। इस जीवन में जो प्राप्त होता है, वह खोता अवश्य है। यदि वह नहीं खोता, तो हम उसे छोड़कर चले जाते हैं और पुनः शून्य से प्रारम्भ करते हैं। **हम नश्वर जीवन में नश्वरता की ओर ही अग्रसर होते हैं और नश्वर ही एकत्र करते रहते हैं।** कोई न कोई आसक्ति छोड़कर मरते हैं, फिर जन्म लेते हैं।

मूलतः ईश्वर ने हमें यह काल्पनिक जीवन नहीं दिया। हमने जानबूझ कर या अनजाने में मूर्खतावश देह को अपना स्वरूप मानकर इसे काल्पनिक बना दिया। **'मैं देह हूँ या देह मेरी है' यह भाव आते ही ईश्वर प्रदत्त यथार्थ जीवन व यथार्थ देह काल्पनिक बन जाती है। यथार्थ जीवन अकाल है।** यह काल्पनिक जीवन काल-चक्र में भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों विधाओं से बँधा काल है। इस प्रकार हम एक काल्पनिक काल-चक्र में

भटकते हैं, जबकि हमारा स्रोत ईश्वर सच्चिदानंद और अकाल है। जो काल्पनिक, असत्य व जाली है, उसमें कोई न कोई कमी अवश्य रहती है। कोई 'लूपहोल' होता है, जिससे उसकी असत्यता प्रमाणित हो जाती है। जब हम जन्म-मृत्यु के काल्पनिक काल-चक्र में स्वयं को बाँध लेते हैं, तो हमारे कृत्यों और प्राप्तियों में भी मृत्यु तक कुछ न कुछ अपूर्णता रह जाती है। जिसकी आसक्ति मृत्योपरान्त दूसरे काल-चक्र में ले जाती है और हम फँसते चले जाते हैं। लेकिन फिर भी हमें फँसने की आदत है। यदि हम किसी आदत में फँस सकते हैं, तो उसी से निकल भी सकते हैं। **यदि हम किसी से घृणा करते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि कभी हमने उसे अवश्य ही दिलोजान से चाहा था।** लेकिन यदि हम किसी से प्यार करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है, कि कभी हम उससे अवश्य ही नफरत करते होंगे। ये जीवन के सकारात्मक पहलू हैं। आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्टि के लिए सकारात्मक दृष्टि का होना परमावश्यक है।

इस काल्पनिक काल-चक्र के काल में एक 'लूपहोल' या कमज़ोरी है। काल से बाहर आने के लिए काल की इसी कमज़ोरी का लाभ उठाकर काल्पनिक काल-चक्र से बाहर आया जा सकता है। काल-चक्र में काल की भूत, भविष्य व वर्तमान तीन विधाएँ हैं, लेकिन अकाल-काल में न भूत होता है, न भविष्य और न ही वर्तमान होता है। इस समय जो काल है, जीवन्त वर्तमान है। इसमें एक अधूरापन है, कि आज का यह वर्तमान, वर्तमान तो है ही और बीते हुए कल का भविष्य भी है, लेकिन मेरे लिए आने वाले कल का अतीत भी होगा, यह अनिश्चित है। **क्योंकि पता नहीं, आने वाला कल मेरे लिए आएगा भी या नहीं आएगा।** अगर मेरे लिए आएगा तो आज का वर्तमान उस आने वाले कल का अतीत होगा। लेकिन उसके आगे आने वाला कल फिर एक प्रश्न के रूप में अनिश्चित बना रहेगा। यह अधूरापन सबके लिए काल के प्रत्येक वर्तमान में है। काल में यह अपूर्णता और कमी है। अगली तारीखें आएँगी, पर मेरे लिए आएँगी या नहीं, इसकी कभी भी कोई सुनिश्चितता नहीं है।

जन्म और मृत्यु के मध्य **जीवन में** जितने भी भविष्य हैं, अनिश्चित हैं, क्योंकि आने वाला कल ही अनिश्चित है। उसमें हमने जो भी योजना बनाई है, वह भी अनिश्चित ही है। चाहे योजना का समस्त प्रबन्ध भी हो जाए, लेकिन अगला पल ही अनिश्चित है, तो समस्त प्रबन्ध भी स्वयं में अनिश्चित ही रहते हैं। लेकिन स्वभाववश हम अज्ञात रूप से उस अनिश्चित भविष्य को, सुनिश्चित रूप से अपने वर्तमान में ढो लेते हैं और ज्ञात रूप से प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। **जब हम ज्ञात रूप से करते हैं, तो हम करते हैं।** यहाँ पहली बात तो यह है कि वह कार्य होगा या नहीं होगा, सुनिश्चित नहीं है। दूसरी बात यह है, कि जो कार्य होगा या नहीं होगा, उसका हमारे करने या न करने से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मैंने अपने प्रवचनों में बार-बार बताया है **कि जो हम कर रहे हैं, वह हो रहा है और जो हमने किया, वह होना ही था। एक ऐसी पराशक्ति है, जो हम सबको चलाती है।** यह भी पता नहीं, कि जिस कार्य के लिए मैं योजना बना रहा हूँ, वह पहले से **हुआ-हुआ** हो। हो सकता है मेरे एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने पर भी वह कार्य न हो पाए। क्योंकि उस प्राप्ति से हमारे किसी कृत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। **करने और होने में** कोई सम्बन्ध नहीं है। जो होगा, वह होना होगा तो होगा। जैसे हमारे मरने के बाद जो होना होगा, वह होगा। हमारे जन्म से पहले भी जो हुआ सो हुआ, उसमें मैंने क्या किया? जो हम कर भी रहे हैं, वह ईश्वर करवा रहा है। कोई भी कृत्य व्यक्तिगत तो है ही नहीं।

जब कुछ भी होने के लिए, ज्ञात रूप से **हम करते हैं,** तो हम बहुत तनाव में कार्यरत रहते हैं। अनिश्चित भविष्य में वह कार्य जिसे हमने अज्ञात रूप से सुनिश्चित मान कर अपने वर्तमान में निश्चितरूप से ढो लिया था, यदि वह हमारे करने से हो जाता है, तो हम समझते हैं कि यह हमारे करने से हुआ है। मैंने योजना बनाई, अर्थ का प्रबन्ध किया, अनुशासित तरीके से कार्य करके, मैंने यह पाया। यह अहं भाव दैवी शक्तियाँ सहन नहीं करतीं। क्योंकि जो हुआ, वह होना ही था, इसलिए हमें दैवीय संस्थानों द्वारा सज़ाएँ

दी जाती हैं। इसलिए हम न केवल उस प्राप्ति के भोग से वंचित कर दिए जाते हैं बल्कि वह प्राप्ति ही हमारे लिए तनाव व चिन्ता का कारण बनी रहती है। यह दैवीय कानून है। चाहे कोई पद, प्रौपर्टी हो, अपनी पसन्द की लड़की या लड़के से सम्बन्ध हो, चाहे कुछ भी हो। उसका कुछ देर के लिए सुख मिल सकता है, लेकिन वह सुख, दुःख में अवश्य बदलेगा।

सुख-दुःख, आसक्तियाँ, असंतुष्टि, विक्षेप, तनाव, भय से घिरे हम दुर्लभ मानव-जीवन को व्यर्थ ही नहीं, नकारात्मक रूप से बरबाद करते रहते हैं। जीवन में जितने भविष्य हैं, उनकी यही गति होती है। **आने वाला कल ही नहीं, यहाँ तक कि आने वाला पल भी किसी के हाथ में नहीं है।** यदि आपके द्वारा कुछ हो जाता है तो इसका अर्थ है आपके द्वारा प्रभु-कृपा से कुछ करवाया जा रहा है। जहाँ आपको अपनी सफलता का अभिमान हुआ, वहाँ आप सबसे अधिक असफल हो जाते हैं। कल जो हुआ, वह करवाया गया और आने वाला कल यदि आपके लिए आएगा, तो जो कुछ आपके द्वारा होगा, वह भी करवाया जाएगा, यदि प्रभु चाहेंगे तो। आने वाले कल के बारे में तो आप डींग हाँक ही नहीं सकते, कि मैं कल यह करूँगा। हमारी मात्र कल्पनाएँ ही होती हैं कि अमुक वस्तु मुझे प्राप्त हो गई या हो जाएगी। जो भी हम प्राप्त करते हैं, वह भी कल्पना का ही एक अंग होता है, क्योंकि उसका भोग तो हम कर ही नहीं सकते। **'कर-कर'** में हमारा सम्पूर्ण अमूल्य जीवन निरर्थक बरबाद होता रहता है और हम इस जीवन में विभिन्न **'कर'** देते रहते हैं।

काल-चक्र क्या है, क्यों चलता है? काल की वर्तमान, भूत एवं भविष्य तीन विधाएँ हैं। काल-चक्र अबाध अनवरत चलता है, **लेकिन जो इसे वर्तमान, भूत और भविष्य की मान्यता दे रहा है, वह कल होगा या नहीं, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है।** उसके लिए काल-चक्र कभी भी थम सकता है। काल-चक्र की यह कमज़ोर कड़ी है। पुनः पुनः काल-चक्र क्यों चलता है और हम इसमें क्यों उलझे हुए हैं? क्योंकि आने वाले कल के लिए हम आश्वस्त होते हैं, कि कल (भविष्य) आएगा। उसके साथ हमारे कई

कार्यक्रम होते हैं। वह समय अवश्य आता है, लेकिन तब जो मेरी आकांक्षाएँ, इच्छाएँ व चाहतें हैं, पूरी होंगी या नहीं होंगी, इसकी कोई गारन्टी नहीं है। हो सकता है तब मैं ही न रहूँ और मेरे बाद वे चाहतें पूरी हों। हमारा जीवन-काल कहाँ रुक जाएगा, हम नहीं जानते। इसलिए एक न एक भविष्य अवश्य अधूरा रह जाता है। **जो अज्ञात व ज्ञात रूप से भविष्य में आने वाले एक काल से बँधा रहता है। वह काल आएगा, पर मेरे लिए वह आएगा या नहीं, इसकी कोई गारन्टी नहीं है।** इसीलिए हम यही कहते रहते हैं, कि पता नहीं यह होगा भी या नहीं। हमारी प्रत्येक दौड़ भविष्य के लिए है और भविष्य हमारे हाथ में नहीं है। **तो दौड़ने से पहले भविष्य को बाँध लो। भविष्य को बाँधने से हमारे जीवन-काल में काल-चक्र थम जाएगा और अकाल-काल में प्रविष्टि हो जाएगी।** वह अकाल-काल जन्म-मृत्यु से रहित है।

जीवन स्वयं में अकाल था। हमने अपनी संकुचित व तुच्छ बुद्धि से इसे काल में बाँध लिया, कि **'मैं पैदा हुआ हूँ' और 'मैं मरूँगा'**। अरे ! यह तो सोचें कि क्या मैंने या किसी ने भी स्वयं को पैदा होते या मरते देखा है, या कभी देख पाने की सम्भावना है? मैंने एक निराधार कल्पना में स्वयं को बाँध कर अपने जीवन को भी एक काल्पनिक काल में सीमित कर लिया। **मेरी समस्त योजनाएँ, परियोजनाएँ, प्रबन्ध, व्यवस्थाएँ, प्रवृत्तियाँ, झुकाव, विचार-चिन्तन, मित्रता-शत्रुता, विशेषताएँ, अनुभव, क्षमताएँ, लक्षण, मिलना-बिछुड़ना तथा प्रत्येक प्रकार की क्रियाशीलताएँ, अतीत में हुई उपलब्धियों की सुरक्षा, सम्भाल व वितरण तथा हानियों की पूर्ति व संशोधन के लिए होती है।** साथ ही कुछ नया और-और पाने की दिशा में होती हैं। **अतीत में किसी ने मेरा अपकार किया, जिससे मुझे वर्तमान में धक्का लगा, उसका मैं भविष्य में प्रतिशोध चाहता हूँ। किसी ने मेरा उपकार किया जिससे मैं अनुगृहीत हुआ, उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहता हूँ।** किसी से मिलना चाहता हूँ, किसी से बिछुड़ना चाहता हूँ, कुछ खोना चाहता हूँ, कुछ पाना चाहता हूँ, विभिन्न सुख-साधन एकत्रित करना

चाहता हूँ। आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से समाज में मान-सम्मान चाहता हूँ। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, सौन्दर्य व ख्याति आदि विभूतियाँ चाहता हूँ और भी न जाने क्या-क्या चाहता हूँ। तो मेरी समस्त आकांक्षाएँ व एकाग्रता उस भविष्य के क्रियान्वयन, प्रबन्धन व भावों की अभिव्यक्ति में है, जो मेरे लिए पूर्णतः अनिश्चित है। फिर भी यह भाव मेरे मन में होता है, कि मैं ऐसा करके छोड़ूँगा। यह विचार मैं करता ही नहीं कि चाहे समस्त प्रबन्ध और योजनाएँ उचिततम व समुचित हों, लेकिन यदि मेरे लिए भविष्य आएगा एवं समस्त परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी तभी मैं कर पाऊँगा।

मेरा प्रत्येक वर्तमान इस प्रकार की विभिन्न विचारधाराओं से बोझिल रहता है, कि कल 9 तारीख को मैंने ऐसा किया था, आज 10 तारीख है, इतना कार्य हो गया और कल 11 को मैं वहाँ जाकर शेष सारा कार्य समाप्त कर दूँगा। 10 तारीख जो आज मेरा वर्तमान है, 9 तारीख का यह भविष्य है और 11 तारीख का अतीत होगा। 11 तारीख आएगी अवश्य, पर मेरे लिए आएगी, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है। आज 10 तारीख मेरे लिए है, क्योंकि मैं इसमें विचर रहा हूँ। 9 तारीख में मैं विचर चुका हूँ, इसलिए उसका भविष्य भी है, लेकिन 11 तारीख में, मैं विचर पाऊँगा या नहीं, यह अनिश्चित है। **काल-चक्र में एक स्वतः भविष्य होता है, वह होता ही है। 10 तारीख के बाद 11 आती है, परन्तु मेरे लिए आएगी या नहीं, यह अनिश्चित है। मेरी योजनाओं, परियोजनाओं के लिए वह भविष्य होगा या नहीं। मेरे ऊपर हुए अपकारों का प्रतिशोध लेने के लिए और उपकारों की कृतज्ञता ज्ञापन के लिए होगा या नहीं होगा, यह सब अनिश्चित है।** अतीत मेरे लिए था, वर्तमान मेरे लिए है, पर भविष्य हर प्रकार से मेरे लिए अनिश्चित है। फिर भी मेरा दृढ़ विश्वास व मान्यता रहती है, कि **'कल मैं ऐसा करूँगा'।**

एक मेरी अपनी भविष्य की योजना है और एक काल-चक्र में स्वतः आने वाला भविष्य है। चार दिन बाद मैं वहाँ जाऊँगा, बेटी का सम्बन्ध निश्चित करूँगा और अगले वर्ष विवाह कर दूँगा। मैंने बीमा की सारी किश्तें जमा करा दी हैं, अगर मुझे कुछ हो जाए तो इतना धन मेरे परिवार को मिल

जाएगा, आदि-आदि। मेरी भविष्य की जो योजना है, वह भविष्य में पूरी हो न हो, लेकिन भविष्य तो आएगा ही। हो सकता है, मेरे लिए भविष्य आए ही नहीं, आज का दिन मेरे जीवन का अन्तिम दिन हो सकता है। जिस वृत्ति, भाव, धारणा व आकांक्षा से मैंने वह धन एकत्रित किया या सम्पदा बनाई अथवा कुछ शक्तियाँ प्राप्त कीं, कि भविष्य में मेरे काम आएँगी और मान लीजिए वह भविष्य मेरे लिए नहीं आया, तो वह प्राप्ति मेरे लिए घातक होगी। क्योंकि मध्य में ही बिना उसे भोगे मेरा जीवन समाप्त हो गया। उसकी भोग की आसक्ति मुझे दूसरे काल-चक्र में ले जाती है, जहाँ मैं सब कुछ भूलकर लक्ष्यहीन पुनः भटकता हूँ।

ज़रा भी यदि मैंने इस दिशा में सोचा होता तो मुझे इतनी सज़ाएँ भुगतनी न पड़तीं, क्योंकि ईश्वर बड़ा दयालु व कृपालु है। देव शक्तियाँ मेरी क्षतिपूर्ति करतीं, मुआवजा देतीं, सब प्रकार से सहायता करतीं, लेकिन आप सोचते हैं सब कुछ अपने बल बूते पर कर लेंगे। आप बहुत बड़े भ्रम में हैं, कि अतीत में जो कुछ भी आपके द्वारा हुआ, वह आपने किया था। अरे ! आपने किया था, पर आगे आने वाला एक भी पल आपके हाथ में नहीं है, तो भविष्य के विषय में आप कैसे डींग मार सकते हैं? आपकी सारी बातें ठीक हैं, आप बुद्धिमान हैं, आपके पास धन-बल, जन-बल, प्रतिभाएँ, प्रबन्धन सब कुछ है, **पर भविष्य आपके हाथ में है ही नहीं।**

यह क्षण जो बीत रहा है, यह वर्तमान है। हम सजग रहें और देखें कि इस वर्तमान में हम हैं या नहीं? **हम विशुद्ध वर्तमान में कभी भी नहीं रहते। भूत अथवा भविष्य का कोई न कोई विचार, खयाल या सोच हमें घेरे रहती है।** प्रत्येक वर्तमान में हम भविष्य की ओर दौड़ रहे होते हैं। हम अपनी समस्त क्षमताओं, शक्तियों, प्रतिभाओं, उपलब्धियों, प्राप्तियों, अनुभवों, प्राप्त अथवा अप्राप्त साधनों, योजनाओं, परियोजनाओं को भविष्य में किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए झोंक देते हैं। मान लेते हैं कि **'अमुक समय'** में मैं अमुक कार्य पूरा कर दूँगा। अरे ! तू कर सकता है, क्योंकि तेरे पास साधन भी हैं, प्रतिभाएँ भी हैं, प्रबन्ध भी है, पर **'अमुक समय'** तेरे हाथ में है क्या? तो **क्या**

इतना नहीं कह सकता, कि प्रभु की कृपा होगी तो मैं कर दूँगा। इससे तेरे कार्य की गुणात्मकता कई गुना हो जाएगी। वह कार्य तेरे लिए दैवीय हो जाएगा तथा उसके प्रतिफल का तू भोग भी कर पाएगा। प्रभु ने समय का एक-एक निमिष अपने हाथ में रखा हुआ है। जन्म-मृत्यु की बात छोडो, यदि तू बीमार पड़ जाए या कोई ऐसा अपरिहार्य, अनिवार्य कार्य अचानक आ जाए, परिवार में कोई आपत्कालीन स्थिति आ जाए, दुर्घटना हो जाए तो तेरी **'अमुक समय'** में कार्य पूरा करने की योजना धरी की धरी रह जाएगी।

लोग भविष्य-निधि योजना बनाते हैं, बीमा कराते हैं। अरे ! कोई **भविष्य-सिद्धि** योजना भी है क्या? यदि भविष्य ही न आए तो उस भविष्य निधि का आपके लिए क्या लाभ होगा? इसलिए पहले भविष्य, सिद्ध करना होगा। **नहीं तो कोई न कोई इच्छा या आसक्ति लिए एक काल-चक्र की जीवन-अवधि समाप्त हो जाती है और पुनः उस चाहत के लिए एक देह मिलती है। दूसरे, काल-चक्र में प्रविष्टि के बाद उस चाहत की ही विस्मृति हो जाती है। काल-चक्र छोटा हो या बड़ा, एक के बाद एक ऐसे ही चलता है।** विधि की यह विडम्बना है, कि पुनः एक काल्पनिक जगत में हाथ मारना पड़ता है, जहाँ होते हैं नए माँ-बाप, नया देश, नया परिवार, नया समाज और लक्ष्यहीन कोई दूसरा लक्ष्य। **काल-चक्र में कोई भौतिक अविरलता या निरन्तरता नहीं है। दूसरे, काल-चक्र में प्रविष्टि मात्र है, जहाँ मेरे हाथ से भौतिक लक्ष्य ही छूट जाता है।** क्योंकि मैंने मोहवश, अज्ञानवश, मूर्खतावश, पागलपन में, विवेक-बुद्धि व सत्संग के अभाव में आने वाले अनिश्चित भविष्य को सुनिश्चित मानकर ढोया हुआ था।

प्रत्येक काल-चक्र में जीवन का प्रारम्भ और अन्त होगा, लेकिन मेरी चाहतों का अन्त नहीं होगा। इच्छा यदि न पूरी हो तो इच्छा ही रहती है और यदि पूरी हो जाती है तो इच्छाएँ रक्तबीज की तरह परिवर्द्धित होती रहती हैं:—

''हज़ारों चाहतें ऐसी कि हर चाहत पे दम निकले,
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।''

जीवन भर हम कुछ न कुछ पाने के लिए भागते रहते हैं। पाते हैं तो और पाना चाहते हैं। यदि खो देते हैं तो उसकी पूर्ति चाहते हैं। **न जीता हुआ जुआरी खेल छोड़ना चाहता है, न हारा हुआ।** इस भागम-भाग में जीवन का काल-चक्र समाप्त हो जाता है। दूसरे काल-चक्र में सृष्टि के समय जीवात्मा की देह ऐसी हो जाती है, जिसमें उसे न कोई स्मृति रहती है, न स्थिति, न परिस्थिति और न ही उसमें शक्ति व सामर्थ्य होती है, लेकिन प्रविष्टि हो जाती है। फिर आप सोचेंगे कि मेरा क्यों जन्म हुआ? उस प्रविष्टि में मैं पुनः एक नई कहानी रचाता हूँ और अन्धकार में हाथ मारता हूँ। यह सिलसिला युगों-युगान्तरों से जन्मों-जन्मान्तरों में अनवरत चलता रहता है। यही काल-चक्र है।

मैं जन्म-मृत्यु के बीच बँधे काल-चक्र में काल की विधाओं का विश्लेषण करता हूँ। मैं पाता हूँ कि काल की तीनों विधाओं में वर्तमान मेरे लिए होता है, अतीत भी मेरा ही था, लेकिन भविष्य का अगला पल मेरे लिए सुनिश्चित नहीं होता। **जन्म और मृत्यु के सम्पूर्ण जीवन-काल में मैं काल की उस अवधि से बँधा हूँ, जिसमें कोई भी अगला, आने वाला क्षण मेरे लिए अन्तिम हो सकता है। लेकिन फिर भी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से मैं भविष्य के ही ख़यालों, इच्छाओं, चाहतों, आकांक्षाओं में ही डूबा रहता हूँ। यह मेरी ईश्वर-प्रदत्त प्रकृति व स्वभाव है, कि मैं मान लेता हूँ कि आने वाला कल (भविष्य) मेरे लिए ही होगा।** करोड़ जन्मों में भी मैं ऐसा ही कुछ करूँगा, अनर्थ में अर्थ ढूँढते हुए जन्मता-मरता रहूँगा। हम आश्वस्त हो जाएँ, कि हम काल-चक्र में पड़े, अन्धकार में भटक रहे हैं। जो काल मनोरंजन व क्रीड़ा के लिए था, वह विकराल होकर हमारे गले पड़ा हुआ है। मैं सोचता हूँ कि, जब मैं पैदा हुआ था तो लखपति भी नहीं था, अब मैं करोड़पति हूँ। मैं शीघ्र ही दस करोड़पति बनकर दिखाऊँगा, क्योंकि मेरा समस्त प्रबन्ध व योजनाएँ बहुत उत्तम हैं। लेकिन इतने में काल-चक्र समाप्त हो गया, जीवन की अवधि पूरी हो गई। फिर दूसरे काल-चक्र में पाया, कि मैं एक भिखारी के घर पैदा हो गया।

आप यदि गुणात्मक जीवन जीना चाहते हैं, तो भविष्य-काल की इस अनिश्चितता को अवश्य ध्यान में रखना होगा। हर पल, हर श्वास, हर विधा के साथ उस परम पिता परमात्मा का नाम व कृपा जोड़नी होगी। आपको मानव-देह और उत्कृष्टतम् बुद्धि दी गई है। आप पशु नहीं हैं। पशु-पक्षी जगत के लिए कोई कानून नहीं है, वे ईश्वर के विमुख हैं लेकिन ईश्वर की प्रकृति उनका पालन करती है। मानवों के लिए बहुत औपचारिकताएँ हैं। मानव-देह धारण करके ईश्वर-विमुख होना अपराध है। समस्त प्रकृति प्रतिकूल हो जाती है। आप सुख से एक क्षण भी व्यतीत नहीं कर सकते। एक मृग-तृष्णा में हाय-हाय करते जन्मते-मरते रहते हैं। **अज्ञानवश या दुर्भाग्यवश इस काल-चक्र में हम इतना व्यस्त व तन्मय हो जाते हैं, कि जन्म-मृत्यु से रहित अपने शाश्वत् स्वरूप को न याद करते हैं और न याद करना ही चाहते हैं।** एक काल-चक्र समाप्त होता है, दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। जीवन भौतिक निरन्तरता या विकास का क्रम नहीं है। इन्द्र-जाल के समान सब कुछ बनता-मिटता रहता है।

उस अकाल व सच्चिदानंद पंच-प्राण-पुंज ईश्वर की जो छाया है, वह पंच-महाभूतों में समस्त चराचर सृष्टि रूप में है। उसका संघनित रूप जीवात्मा को मिली मानव-देह है। जब तक जीव, जीते जी इसके अवशेष तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** का आश्रय नहीं लेगा, तब तक यथार्थ का स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसीलिए भस्मी शिव की ओढ़नी है। लीलाएँ यथार्थ देह में होती हैं, काल्पनिक देह में जीव स्वयं तमाशा बन जाता है। किसी जन्म में विशेष इष्ट-कृपा से जीव त्रसित होकर किसी संत की शरण में जाता है। सद्‌गुरु उसे बताता है कि जब तक जीते जी तू अपनी पंच-महाभूतों की इस देह का पिण्डदान कर, श्राद्ध नहीं करेगा तब तक तेरा पिण्ड नहीं छूटेगा। तेरा पितर यही तेरी देह है। जीते जी इसका पितृ-विसर्जन कर। पूर्व जन्म में भी तो तेरे माँ-बाप थे, उनका श्राद्ध क्यों नहीं करता? युगों-युगान्तरों से कितनों का तू बाप बना, तेरे कितने बाप बने। और किन-किन का पिण्ड दान और श्राद्ध करता रहेगा। **एक देह का पिण्डदान करने से, सारे पिण्ड छूट**

जाएँगे। इस नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मानकर, तू जीव बनकर काल-चक्र में भटक गया। जीते जी इसका पिण्डदान करके, तू अपने जीवात्मा स्वरूप में प्रविष्टि पा जाएगा। तब यह काल्पनिक काल-चक्र अपनी विभिन्न विधाओं से तेरा मनोरंजन करेगा।

जीवन **'का'** भविष्य है **'भस्मी'**। वह भविष्य सुनिश्चित है। **यदि उसे हम अपनी इस प्रकृतिगत प्रतिभा का उपयोग करते हुए अपने वर्तमान में ज्ञात रूप से ढो लें, कि मैं भस्मी बन गया हूँ, तो हमें जीवन के सत्य की अनुभूति हो जाएगी। हम काल-चक्र से बाहर आ जाएँगे।** भस्मी, जन्म और मृत्यु के काल्पनिक जीवन से बाहर, इसी पंच-भौतिक देह का यथार्थ अवशेष है। यदि आप जीवन में विभिन्न अनिश्चित भविष्यों को अज्ञात रूप से सुनिश्चित मानकर ढो सकते हैं, तब एक सुनिश्चित भविष्य को निश्चित रूप से जानते-बूझते हुए क्यों नहीं ढो सकते। तब काल में जो अधूरापन है, वह पूर्णता प्राप्त कर लेगा। क्योंकि आज का वर्तमान, वर्तमान तो है और बीते हुए कल का भविष्य भी है। लेकिन आने वाले कल का अतीत होगा या नहीं, यह सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आने वाला कल अनिश्चित है। जब आपने अपने सुनिश्चित भविष्य भस्मी को अपने वर्तमान में आत्मसात् कर लिया, तो काल की यह अपूर्णता नहीं रही। आपको कल की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ', क्योंकि भस्मी तो अवश्य बनेगी। **यह इतना सुन्दर भविष्य है, कि यहाँ शेष समस्त छोटे-छोटे भविष्य समाप्त हो जाते हैं। आपमें स्थिरता आ जाएगी। इसके लिए महती ईश्वरीय-कृपा अपेक्षित है, यह आपके करने से नहीं होगा।**

प्रभु-कृपा से यदि आपकी यह स्थिति बन गई, तो चमत्कार यह होगा, कि पहले आप जीवन में छोटे-छोटे अनिश्चित भविष्यों को अज्ञात रूप से सुनिश्चित मानकर ज्ञात रूप से संघर्ष करते थे, अब आप स्वयं में कुछ नहीं करेंगे, सब कुछ आपके लिए स्वतः भाव में होगा। **अब आपकी समस्त योजनाएँ ईश्वर बनाएगा और अज्ञात रूप से आपकी देह द्वारा या आपके लिए होता हुआ दृष्टिगत होगा। पहला जीवन काल्पनिक था,**

परन्तु यह जीवन 'यथार्थ' दिव्य जीवन होगा। काल की परिपूर्णता का नाम है–**अकाल।** काल की विधाओं में भविष्य की अनिश्चितता का अधूरापन हमेशा रहता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की विधाएँ एक ही समय में जहाँ होंगी, वह काल, अकाल-काल बन जाएगा। **सद्गुरु-कृपा से इस काल को परिपूर्णता दे दीजिए, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। आप भस्मी में उतर जाइए तो आपके लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहा।** मरने के बाद हमारी भस्मी जड़ होगी और उसी भस्मी को प्रभु-कृपा से अपने जीवन-काल में धारण कर लिया, तो वह भस्मी चेतन होगी। आपको काल से अकाल में ले जाएगी, आपका जीवन आनन्दमय हो जाएगा।

हमने पहले कहा था कि जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ हैं, तो यदि मृत्यु कल्पना है, तो भस्मी भी तो कल्पना हुई। **वह निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य इसलिए है क्योंकि वह सब कल्पनाओं का अन्त है और स्वयं में कल्पना नहीं है।** कल्पनाओं के अन्त को जन्म और मृत्यु की कल्पना वाले जीवन के मध्य में उतार दीजिए, तो आपकी समस्त कल्पनाओं का अन्त हो जाएगा। फिर आपको कुछ नहीं करना। फिर सब कुछ अप्रत्यक्ष रूप से आपके द्वारा और आपके लिए होगा। **जीवन में कुछ भी संयोग नहीं होता। सब कुछ ईश्वर-इच्छा में होना होता है, तो होता है।** जन्म और मृत्यु के बीच बँधी देह को 'मैं' मानकर इस काल्पनिक जीवन में भविष्यों के लिए दौड़ेंगे तो काल-चक्र का दृश्य बन जाएँगे और जीव-सृष्टि में घूमेंगे। यदि इस देह के परिलक्षित, निश्चित भविष्य **'भस्मी'** से आत्मसात् होकर अवधारणा करेंगे, कि मैं **'भस्मी'** बन गया हूँ, तो समस्त दृश्य के दृष्टा बनकर उसी काल-चक्र का आनन्द लेंगे और सब कुछ होता हुआ देखेंगे।

यह तो सोचें कि हम क्या कर रहे हैं, कब तक करेंगे। यदि जो प्राप्त करना चाहते हैं, मिल भी गया तो क्या हो जाएगा? सद्गुरु-कृपा से जीवन्त वर्तमान में जीते जी **जीवन के** इस अन्तिम भविष्य की अवधारणा के बाद यह नहीं होगा, कि आप कुछ नहीं करेंगे। **ईश्वर ने आपको देह दी है,**

इसका प्रयोग फिर वह करेगा और आप Duty Free हो जाएँगे। फिर आप जन्म-मृत्यु के मध्य काल-चक्र की हर विधा की वाह-वाह करेंगे व आनन्द लेंगे। जो भी आपके द्वारा होगा, आपको उसके लिए आश्चर्य होगा, कि यह कैसे हो गया। आपको बहुत प्रशंसा भी मिलेगी, ख्याति भी होगी, लेकिन आपके लिए उसका महात्म्य इसलिए नहीं होगा, क्योंकि आपने तो कुछ किया ही नहीं। आप काल को परिपूर्णता दे देंगे, हर कृत्य जो वह करवाएगा पूर्ण होगा, अकाल-काल में होगाः—

''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(5, 6, 7 नवम्बर 2005)

काल-चक्र

(भाग – 2)

मानव-देह का सम्पूर्ण नियन्त्रण भगवान के हाथों में है। केवल मानव को प्रभु ने प्रकृति के बाध का अधिकार दिया है और केवल वही प्रकृति से ऊपर उठकर, भगवत्ता से सम्पर्क कर सकता है। मानव-जीवन जन्म और मृत्यु के दो काल्पनिक छोरों से बँधा है। **आज तक किसी ने अपना स्वयं का जन्म या मृत्यु किसी स्वप्न में भी नहीं देखी। जन्म और मृत्यु के मध्य का काल्पनिक जीवन-काल ही 'काल-चक्र' है। युगों-युगान्तरों से स्वयं को देह मानकर काल-चक्र का दृष्टा जीवात्मा काल-चक्र का दृश्य बनकर जीव-सृष्टि में घूम रहा है।** स्वयं को देह मानते ही जीवात्मा जीव बन गया और जीव-सृष्टि रचने लगा। अपना स्वयं का जन्म व मृत्यु मान बैठा, जो मात्र इसकी कल्पना थी। कल्पना ही दृढ़ हो गई। एक झूठ को बार-बार बोलो तो वह झूठ ही तथाकथित सच बन जाता है।

हम सब इस संसार में स्वयं नहीं आए हैं, लाए गए हैं और सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। हम जीना क्यों चाहते हैं? मैं जीना चाहता हूँ, लेकिन काल का अगला पल मेरे लिए सुनिश्चित नहीं है। **काल का प्रवाह अबाध बह रहा है, परन्तु मेरे लिए कभी भी थम सकता है।** हम योजनाएँ बनाते हैं, विभिन्न तैयारियाँ व प्रबन्ध करते हैं, लेकिन जिस भविष्य में वे योजनाएँ क्रियान्वित होनी हैं, वह तो हमारे हाथ में है ही नहीं। **इसलिए योजनाएँ बनाने से पहले भविष्य की यह अनिश्चितता भी विचारणीय है।** हम सब केवल मात्रात्मक जीवन जी रहे हैं। जब स्वयं हम योजनाएँ बनाते हैं,

विभिन्न प्रबन्ध करते हैं, कार्य करते हैं, तब अनावश्यक रूप से व्यस्त एवं संघर्षरत रहते हैं। हम तनावित और परेशान इसलिए रहते हैं, क्योंकि कोई भी भविष्य सुनिश्चित नहीं है। जीवन के विभिन्न लक्ष्य होते हैं, जिनकी पूर्ति हम चाहते हैं। **हम कोई चीज़ प्राप्त करना चाहते हैं, यद्यपि उसकी प्राप्ति अनिश्चित है, लेकिन उस अनिश्चितता में भी (अनिश्चित ही सही) एक अवधि होती है,** कि इतने समय में मैं प्राप्त कर लूँगा। प्रश्न उठता है, कि यदि इस दौरान किसी कारणवश न कर सके तो? काल-चक्र से बाहर आने के लिए इन प्रश्नों पर एकाग्र करते हुए स्वयं का अध्ययन, ईमानदारी से करेंगे, तो काल-चक्र का समस्त रहस्य हमारे पल्ले पड़ जाएगा।

एक निश्चित समय पर हमें इस धरा पर **भेजा** गया है। जिसने हमें भेजा है उसी के हाथ में हमारे समस्त जीवन की बागडोर है। लेकिन फिर भी हम अपना **'भेजा'** लगाने से बाज़ नहीं आते। अरे ! जिसने हमें इस धरा पर **भेजा** है, उसे अपना **'भेजा'** इस्तेमाल करने दो। लेकिन हम **बेजा** अपना **'भेजा'** इस्तेमाल करते हैं। जो वस्तु हमें प्रयोग करनी नहीं आती, उसे हम क्यों प्रयोग करते हैं ! जिसने दी है, उसे समर्पित कर दो, कि "प्रभु ! आपने बहुत चमत्कारिक व उत्कृष्ट **'भेजा'** देकर मुझे यहाँ **भेजा** है, पर मुझे तो इसका इस्तेमाल करना नहीं आता। आप इसे मेरी ओर से प्रयोग करो।" लेकिन हम अर्थहीन और अनर्थयुक्त कार्यों में अपना **'भेजा'** लगाने से बाज़ नहीं आते और काल-चक्र में फँस जाते हैं। हम अपनी इस बुद्धि से यह विचार तो करें, कि क्या देह मेरी बुद्धि से बनी है, जो मुझे मिली है। अतः जिस महाबुद्धि ने देह का निर्माण किया है, उसी के हाथ में हमारे समस्त जीवन की बागडोर है।

हम सोचते हैं, कि हमारी बुद्धि से जीवन चल रहा है। बस यहीं गलत सोचते हैं। जब माँ के गर्भ में मेरी देह के लिए गर्भाधान हुआ तो वह किसकी सोच से हुआ? नौ महीने में एक सैल से माँ के गर्भ में चमत्कारिक देह का डिज़ाइन बना, जिसका एक बाल, एक नाखून तक

हम नहीं बना सकते। निराकार की सोच व योजना से एक साकार देह का निर्माण हुआ। जब शिशु के रूप में हम पैदा हुए, तब भी हमारी सोच काम नहीं करती थी, लेकिन हमारा समुचित व उत्तम लालन-पालन हुआ। **मेरा लालन-पालन उनकी सोच से हुआ, जो मेरे प्रति बहुत चिन्तातुर थे, लेकिन मैं उनसे बिल्कुल सम्बद्ध नहीं था।** वे मेरे कौन थे, मैं बिल्कुल नहीं जानता था। देह बनी, तो वह किसी व्यक्ति की सोच नहीं थी और लालन-पालन उन लोगों की सोच तथा कुछ व्यक्तियों की असोच-सोचों से हुआ। **'असोच-सोच',** जैसेकि कोई अचानक संयोगवश किसी छोटे बच्चे को किसी गड्ढे की ओर जाता देखे और उसे उठाकर उसके माता-पिता को सौंप दे। **जब मुझमें सोचने की शक्ति आई तो मैंने यह सोचना शुरू किया कि मैं अपना लालन-पालन कैसे करूँ? 'मैं देह हूँ',** मुझे इसका पालन-पोषण करना है। मैं कैरियर बनाऊँ, ताकि मुझे अच्छा रोज़गार मिले और मैं इस देह के लिए समुचित व्यवस्था कर पाऊँ। **मैंने स्वयं भी और जो पहले मेरा लालन- पालन करते थे, उन्होंने भी मुझे इसी दिशा में सोचने के लिए बाध्य करना शुरू कर दिया।**

प्रभु के प्रसाद रूप में मिली **'सोच'** का इससे बड़ा दुरुपयोग हो ही नहीं सकता था। जन्म के बाद की अबोधता के समय यदि मेरी सोच होती और मैं जाहिर न करता कि मैं सोच सकता हूँ, तो भी सब लोग मेरे लिए सब कुछ आराम से करते रहते। मैं उनसे बिल्कुल सम्बन्धित नहीं था, इसलिए आराम से आत्मचिन्तन करता। **मुझे मेरी सोच के प्रकाट्य ने फँसा दिया, कि मैं बड़ा हो गया हूँ और बहुत बुद्धिमान हूँ।** मुझमें यह भाव आते ही सबने हाथ खींच लिए कि अब तुम स्वयं अपने पैरों पर खड़े होवो। उस समय जब मैं माँ की गोद में था, तब मेरी बुद्धि आज की भाँति यदि सक्रिय होती, तब भी मेरी देखभाल कोई नहीं करता। **जब मेरी सोच इस दिशा में सक्रिय हो गई, कि मुझे देह के लिए कुछ करना है, तो अन्य सबने भी मुझे इस देह के लिए ही सुचवाना शुरू कर दिया।** बालपन की अज्ञानमय अबोधता क्या अब ज्ञानमयी अबोधता में विकसित

नहीं की जा सकती। इस **ज्ञानमयी अबोधता में हम केवल इस दिशा में सक्रिय हो जाएँ, कि मुझे देह मिली क्यों है?** हमें वह मानसिक स्थिति विकसित करनी पड़ेगी, यही **ईश्वर-दर्शन** है। बचपन की अबोधता में तो सोच थी ही नहीं। अब **अबोधतापूर्ण, ज्ञानमयी मानसिकता में हमें अपनी सोच से, ऐसी सोच विकसित करनी पड़ेगी, कि स्वयं को देह मानकर जीव-सृष्टि रूप में जो संसार बनाया है, उसकी निस्सारता का बोध हो जाए।**

मानव को बुद्धि इसीलिए मिली है, कि वह यह सोचे, कि उसे मानव-देह क्यों मिली है? लेकिन हमने परमात्मा की दी इस उत्कृष्ट बुद्धि का दुरुपयोग किया तो परिणाम यह हुआ, कि **जो मेरे लिए बिना मेरे सोचे हो रहा था, वह भी मैं सोच कर करने लगा।** ऐसा करने से यह देह और देह पर आधारित समस्त जगत हमारे गले पड़ गया। पहले सब लोग जिन्हें मैं जानता नहीं था, मेरी सेवा इसलिए कर रहे थे, क्योंकि मैंने देह को अपना माना ही नहीं था। आज भी यदि मैं देह को अपना मानना छोड़ दूँ तो सारी **सोच व असोच-सोच** मेरे लिए ही होगी। वह अधिकार हमारा आज भी है, लेकिन हमने खो दिया, क्योंकि देह पर अनधिकृत कब्ज़ा कर लिया।

जब मुझे ज्ञात नहीं था, कि **'मैं देह हूँ' मैं देह तब भी था।** एक नवजात शिशु को न अपनी देह की अवचेतना होती है और न ही अपने ईश्वरीय स्वरूप की चेतना होती है। **अवचेतना (Consciousness) साकार की है और चेतना निराकार की है (निराकार रूपं शिवोऽहम्)।** तब मुझे चेतना और अवचेतना दोनों नहीं थीं। I was not aware, I was not conscious. नाम-रूप की देह की Consciousness या अवचेतना होती है और चेतना सच्चिदानंद स्वरूप की होती है। **सद्, चेतन व आनन्द में से कोई भी हो, वह सच्चिदानंद का ही प्रतीक है।** तब मुझे ईश्वर की और अपनी देह, दोनों की धारणा नहीं थी। उस समय उस चेतनता की कृपा से मेरा पालन-पोषण हुआ, क्योंकि मैं अपनी देह की अवचेतना में नहीं था। **जो लोग अपनी देह**

की अवचेतना में थे, उस चेतनता की कृपा से वे मेरी देह के प्रति बहुत Conscious हो गए थे। मैं उनके बारे में Conscious इसलिए नहीं था, क्योंकि मैं अपनी देह के बारे में Conscious नहीं था। जैसे मेरी सोच विकसित हुई तो पहले मैं देह के बारे में Conscious हुआ। **'मैं देह हूँ' कहते ही उस ईश्वरीय चेतना से मैं विमुख सा हो गया।** पहले बाल-अबोधता में जानबूझ कर मैं चेतना से विमुख नहीं हुआ था। होश सम्भालने पर मैंने यह सोचा ही नहीं कि मुझे यह देह क्यों, कैसे और किसलिए मिली? इन तथ्यों को मैंने अनदेखा कर दिया।

जैसे-जैसे चेतनता से मैं हटता सा गया और देह के बारे में Conscious होता गया, वैसे-वैसे मैं संसार में फँसता गया। पहले जब मैं छोटा बच्चा था, देह की अवचेतना थी ही नहीं। इस तथ्य को समझने के बाद यदि मैं अपनी उस चेतना के प्रति चेतन हो जाऊँ (कि सब कुछ करवाने वाला ईश्वर ही है) तो मेरी देह की अवचेतना हटती जाएगी। **अब देह की अवचेतना में, ईश्वरीय चेतना की ओर मैं ज्ञात रूप से उन्मुख हो जाऊँगा, तो देह की अवचेतना हट जाएगी।** तब कदाचित् मुझे ऐसा प्रतीत होगा, कि देह सहित सारा ब्रह्माण्ड मात्र मेरे लिए ही सब कुछ कर रहा है। सूर्य, चन्द्रमा मेरे लिए उगते हैं, हवा मेरे लिए चलती है। अपनी सोच से हम सब वह कर रहे हैं, जो स्वतः हो रहा है। **जो पहले भी हुआ, वह हमारे करने से नहीं हुआ और आगे भी जो होगा, वह स्वतः होगा। सबका हमारे करने या न करने से कोई सम्बन्ध नहीं है।** लेकिन हम जन्म-दर-जन्म न केवल निरर्थक बल्कि नकारात्मक रूप से व्यर्थ करते रहते हैं। मानव-देह में ऐसा **'भेजा'** देकर उस परमात्मा ने हमें संसार में **भेजा** है, कि हम सोचें, कि देह क्या हमने स्वयं बनाई है, उसका पालन-पोषण क्या अपनी सोच से किया? सोचिए ! कदाचित् मानव को सोच मात्र इसीलिए मिली थी, कि होश सम्भालने पर ऐ मानव ! तू सोच कि सब कुछ स्वतः हो रहा है। ईश्वर ने तुझ से जो करवाना है, प्रेरित करके स्वयं करवा लेंगे।

हम काल-चक्र में ही घूमते जा रहे हैं, परन्तु हमने पाया क्या? काल-चक्र प्रारम्भ हुआ, हम पैदा हुए, बचपन, जवानी, वृद्धावस्था, मृत्यु और फिर भस्मी—इसी में कभी कुछ, कभी कुछ बनते गए। पहले भी तो कुछ न कुछ बने होंगे, जिसकी हमें स्मृति नहीं है। यहाँ जीवन-साथी बनाते हैं। किसका कौन जीवन-साथी है ! सन्तान को अपना बेटा-बेटी मानते हैं। वास्तव में कौन हैं वे हमारे, हम नहीं जानते। यह सोचो, वह संतान हमारे घर में क्यों पैदा हुई? **वह हमारी अवश्य ही कुछ लगती है, दोस्त, दुश्मन, गुरु, शिष्य कुछ भी हो सकती है।** उससे कोई व्यापारिक लेन-देन हो सकता है। वास्तव में ये विभिन्न सम्बन्ध संसार महानाट्यशाला के नाटक के विभिन्न पात्रों की भूमिकाएँ हैं, जिसका निर्देशक व सूत्रधार ईश्वर है। काल-चक्र एक के बाद एक इस प्रकार चलता रहता है और हम उसमें घूमते रहते हैं।

हम नहीं जानते, कि हम क्या चाहते हैं? जो पाना चाहते हैं, उसके बारे में हमें पूर्ण ज्ञान है, कि वह मिल भी गया, तो खोएगा अवश्य। फिर भी **'मैं'** कुछ न कुछ पाने के लिए काल-चक्र के दायरे में लक्ष्यहीन घूमता रहता हूँ। जहाँ से प्रारम्भ करता हूँ, पुनः वहीं आ जाता हूँ। जो पाता हूँ, वह भी खो देता हूँ। जो खोता हूँ, वह भी खो देता हूँ। **न जाने 'मैं' जन्म-मृत्यु के मध्य उस काल-चक्र की परिधि में क्या ढूँढता हुआ घूम रहा हूँ? उस दायरे में कुछ पकड़ना चाहता हूँ, जो मेरे हाथ नहीं आता। सुख आता है तो और सुख चाहता हूँ। फिर दुःख आ जाता है, अब उसका उन्मूलन चाहता हूँ। कुछ खो बैठता हूँ तो पाना चाहता हूँ, पा लेता हूँ तो और पाना चाहता हूँ। कदाचित् ठहरने की इच्छा ही मुझे घुमा रही है और भटकने पर विवश कर रही है। स्थिरता हमारा स्वरूप है, जो इस काल-चक्र का केन्द्र है।** उसकी चाहत में हम जन्मों-जन्मान्तरों में भटकते हैं, क्योंकि हम केन्द्र से भटक गए हैं। यदि केन्द्र में स्थित हो जाएँ तो नाटक रूपी जीवन में हम मर्यादाओं का बहुत सुन्दर अभिनय करेंगे। इसलिए नाटक के पात्र सुन्दर भूमिका का निर्वाह करते हैं। **देहातीत**

होकर देह में लीला करिए, तमाशबीन बनकर, तमाशा देखते हुए लीला करिए। तभी आप जीवन का आनन्द ले पाएँगे।

चक्र एक वृत्ताकार दायरा है। जहाँ से आरम्भ होता है, वहीं पर अन्त होते हुए, पुनः पुनः घूमता है। प्रत्येक चक्र (Circle) के कई अंग होते हैं। केन्द्र (Centre), परिधि (Circumference), अर्द्धव्यास (Radius) और व्यास (Diameter)। चक्र घूमता है, लेकिन उसका केन्द्र नहीं घूमता। **वह पूरे चक्र की परिधि के बिन्दुओं की विविध विधाओं व अवस्थाओं का दृष्टा है।** केन्द्र स्वयं में चक्र भी नहीं है, लेकिन पूरे चक्र का आधार है। कुल चक्र का माप, क्षेत्रफल (Area) आदि केन्द्र से ही लिया जाता है। केन्द्र के बिना परिधि, व्यास, अर्द्धव्यास किसी की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्द्धव्यास, इस केन्द्र-बिन्दु से परिधि के किसी भी बिन्दु तक आने वाली सरल रेखा को कहते हैं। वृत्त के किन्हीं दो विपरीत बिन्दुओं को मिलाने वाली सरल रेखा जो केन्द्र से होकर जाती है, **उसे व्यास कहते हैं। आध्यात्मिक जगत में सद्गुरु को व्यास कहा गया है।** व्यास-गद्दी युगों-युगान्तरों से आध्यात्मिक दिशा-निर्देश की आधार रही है।

अर्द्धव्यास, केन्द्र-बिन्दु से परिधि का कोई भी एक बिन्दु छुएगा। व्यास, केन्द्र को छूते हुए परिधि के ठीक विपरीत बिन्दुओं को मिला देता है और वृत्त को ठीक दो भागों में बाँट देता है। एक ही व्यास-रेखा दोनों अर्द्धवृत्तों का आधार होती है। प्रश्न उठता है, कि वृत्त की परिधि के ठीक विपरीत बिन्दुओं को मिलाने वाली सरल रेखा, जो केन्द्र से होकर जाती है, उसे व्यास क्यों कहा होगा? उत्तर स्पष्ट है, **जीवन के काल-चक्र में यही कार्य 'व्यास' अर्थात् 'सद्गुरु' करता है।** काल-चक्र की परिधि में एक दूसरे के विपरीत बिन्दु हैं—सुख-दुःख, पाप-पुण्य, खोना-पाना, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु, दिन-रात, मिलना-बिछुड़ना, उठना-गिरना, हँसना-रोना, यश-अपयश, उत्थान-पतन, उन्नति-अवनति आदि-आदि। केवल व्यास अर्थात् सद्गुरु ही काल-चक्र के इन दोनों विपरीत बिन्दुओं का समन्वय कर देता है, क्योंकि वह स्वयं केन्द्र का अधिष्ठाता है।

जब तक सद्‌गुरु नहीं होगा तब तक हम इन दोनों विपरीत बिन्दुओं से युक्त जन्म व मृत्यु के मध्य बँधे काल्पनिक काल-चक्र में ही घूमते रहेंगे। व्यास दर्शाता है, कि सुख-दुःख, लेना-देना, पाना-खोना दोनों एक ही हैं। दोनों ही तेरी कल्पनाएँ हैं। केन्द्र, चक्र के साथ नहीं घूमता। काल-चक्र में वह देह के सुख-दुःख आदि विपरीत स्थितियों का दृष्टा है। **व्यास, केन्द्र-बिन्दु का स्पर्श करा देता है।** उसे केन्द्र-बिन्दु पर पूर्ण अधिकार होता है। जिसको इस केन्द्र-बिन्दु पर अधिकार नहीं है, वह व्यास नहीं हो सकता। जीव सुख में कुछ देर के लिए सुखी और दुःख में दुःखी होता रहता है। **सुख व दुःख दोनों वे मानसिक स्थितियाँ हैं, जिनमें कुछ क्षण के लिए भूत, भविष्य भूल जाता है। 'सुख-दुःख और आनन्द'** शीर्षक प्रवचन में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है। **सुख भी कालान्तर में दुःख ही बनता है। व्यास दोनों का समन्वय कर देता है।**

अर्द्ध-व्यास परिधि के किसी भी बिन्दु को मात्र केन्द्र-बिन्दु तक ले आता है। अर्द्धव्यास अधूरा गुरु है। वह पाने-खोने, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य दोनों का पृथक्-पृथक् महात्म्य बता देगा, कि शुभ कर्मों का फल सुख है, पापों का फल दुःख है। इसलिए तू अच्छे कर्म कर। वह दोनों को एक करके नहीं दिखा सकता। व्यास रूपी सद्‌गुरु बताता है, कि बेटा यहाँ क्या पाना है और क्या खोना है? केन्द्र के ऊपर आधारित काल-चक्र घूमता है, लेकिन केन्द्र स्वयं नहीं घूमता। **व्यास बताता है, कि तू अपने जीवन के काल-चक्र में वह केन्द्र-बिन्दु तलाश कर जो स्थिर है और दृष्टा है।**

यह आध्यात्मिक रेखा-गणित है। भारतीय अध्यात्म स्वयं में विज्ञान है। जितने भी विज्ञान एवं भौतिक विद्याएँ हैं, उनके सूत्र अध्यात्म से ही प्रकट हुए हैं। **अध्यात्म के निष्कर्ष अस्पष्ट और धुँधले नहीं हैं बल्कि सीमांकित, पुष्ट एवं प्रमाणित हैं।** जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन को आप काल-चक्र के रूप में एक वृत्त मान लें। वृत्त की परिधि केन्द्र-बिन्दु के

आधार पर असंख्य बिन्दुओं से ही बनी है। परिधि भी विभिन्न बिन्दुओं का समूह है, जिसके समस्त बिन्दुओं का केन्द्र-बिन्दु एक ही है। इसका केन्द्र-बिन्दु वृत्त की परिधि का कोई बिन्दु नहीं है। केन्द्र-बिन्दु का अपना पृथक् अस्तित्व है। एक ही केन्द्र-बिन्दु से असंख्य परिधियाँ बनाई जा सकती हैं। **एक ही बिन्दु से बनी असंख्य परिधियों के असंख्य बिन्दुओं का केन्द्र-बिन्दु एक ही है।** काल-चक्र में स्वयं को देखकर जीव को भ्रम हो जाता है, कि 'मैं यह देह हूँ' और केन्द्र-बिन्दु (जीवात्मा) परिधि का एक बिन्दु (जीव) बन जाता है। वह भूल ही जाता है, कि वह तो केन्द्र-बिन्दु है, जो परिधि के समस्त बिन्दुओं का दृष्टा है। **यही केन्द्र-बिन्दु रूपी जीवात्मा ऊँकार का बिन्दु है, जो सृष्टि का बीज है।**

समस्त काल-चक्र की गति का मापदण्ड केन्द्र-बिन्दु है, जो स्वयं नहीं घूमता। वह केन्द्र, साक्षी है, दृष्टा है। केन्द्र का गुरु व्यास है, जो काल-चक्र की परिधि के विपरीत बिन्दुओं का समन्वय करता है। खोना ही पाना बनता है, सुख, दुःख और दुःख ही सुख बन जाता है। हम इसी में भटकते रह जाते हैं। काल-चक्र की परिधि में घूमते हुए कभी भी ठहरते नहीं। सुख आता है, वहाँ भी नहीं ठहरते, क्योंकि और सुख पाना चाहते हैं। और-और की चाह में दुःख तक आ जाते हैं। दुःख आता है, तो उसका उन्मूलन चाहते हैं, उसका सुख में रूपान्तरण चाहते हैं। इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरों में, एक काल-चक्र से दूसरे में घूमते रहते हैं। किसी को दोस्त, किसी को दुश्मन, किसी को आलोचक, किसी को प्रशंसक, किसी को प्रेमी, किसी को जीवन-साथी, न जाने क्या-क्या बनाते-मिटाते रहते हैं। व्यास एक ही सिक्के के इन दोनों पहलुओं का समन्वय करता है।

विभिन्न काल-चक्रों में, **परिधि के** असंख्य बिन्दुओं में उस केन्द्र-बिन्दु की तलाश में जीवात्मा, जीव बना युगों-युगान्तरों से घूम रहा है। लेकिन केन्द्र-बिन्दु परिधि का कोई बिन्दु है ही नहीं। व्यास रूपी सद्गुरु बताता है, कि **जीवन में** विभिन्न भविष्यों के लिए भटकना परिधि में केन्द्र-बिन्दु तलाश करना है, जोकि असम्भव है। **केन्द्र-बिन्दु** परिधि से

बाहर है, उसी प्रकार जैसेकि **जीवन का** भविष्य **'भस्मी'** जन्म-मृत्यु से बाहर है। जन्म-मृत्यु के मध्य **जीवन-काल** है, यह काल-चक्र की **परिधि** है। इसका भविष्य **'भस्मी'** है। लेकिन भस्मी का अतीत एक नाम-रूप की देह नहीं है, बल्कि सभी देहों का भविष्य, यह भस्मी ही है, जिस प्रकार कि परिधि के समस्त बिन्दुओं का केन्द्र एक ही है और वह परिधि से बाहर है।

जीवन और मृत्यु के मध्य जीवन कल्पना है, क्योंकि किसी ने भी अपना स्वयं का जन्म व मृत्यु न देखी है और न ही देख सकता है। लेकिन स्वयं को देह मानकर जीवात्मा ने अपना जन्म मान लिया। जन्म मान लिया तो मृत्यु भी माननी पड़ी। जो पैदा हुआ है, वह मरेगा अवश्य। यह स्वयं देह रूप में कब प्रकट हुआ, कब इसने स्वयं को नाम-रूप की देह माना, इसे स्वयं भी ज्ञात नहीं था। एक देह के जन्म को अपना जन्म माना, जबकि उस देह के **प्रारम्भारम्भ** को, जब माँ के गर्भ में, इसकी देह के लिए गर्भाधान हुआ था, इसने नहीं देखा था। न माँ के गर्भकाल के 9 महीने के दौरान उस देह को विकसित होकर पूर्ण मानव-शिशु बनते देखा था और न पूर्ण शिशुरूप में धरा पर प्रकट होते देखा था। **इसकी चेतना में युगों-युगान्तरों से अंकित देहाभास की स्मृति एक नाम-रूप की देह को अपने साथ पाते ही जाग्रत होने लगी। धीरे-धीरे इसे अध्यास हो गया, कि 'मैं यह देह हूँ'।** देहाभास इसे माँ के गर्भ में भी था, पूर्ण शिशु रूप में धरती पर अवतरित होते हुए भी था। इसलिए सुख-दुःख आदि देह की विभिन्न विधाओं से यह प्रभावित होता था। भूख लगने और देह में कोई अन्य कष्ट होने पर रोता था। लेकिन इसे देहाध्यास नहीं था। इसे कोई ज्ञान नहीं था, कि इसकी माँ कौन है, पिता कौन है, घर-परिवार आदि-आदि क्या-क्या हैं। इसका कोई सूक्ष्म जगत नहीं था। एक देह का इसे आभास मात्र था। कालान्तर में इसने पहले स्वयं को एक नाम-रूप की वह देह माना और फिर 'मेरा' यानि समस्त सूक्ष्म जगत खड़ा कर लिया।

देहाध्यास में यह केन्द्र-बिन्दु रूपी जीवात्मा काल-चक्र की परिधि का एक तुच्छ सा जीव बनकर अपने जीवात्मा स्वरूप केन्द्र-बिन्दु से कट

गया। उसी परिधि के विभिन्न बिन्दुओं में 'मैं' और 'मेरा' मानकर सुखों-दुःखों में अपने सद्, चेतन व आनन्द-स्वरूप से विमुख हो गया। **इसका वह स्वरूप 'मैं' और 'मेरा' की मलिनता से आच्छादित हो गया। मल, विक्षेप व आवरण ने इसे आधि, व्याधि, उपाधि, रोगों, दोषों, भय, त्रास आदि में पशु से भी बदतर जीवन जीने पर विवश कर दिया।** इस प्रकार युगों-युगान्तरों से जीवात्मा इस काल-चक्र में भटकता रहा। किसी जन्म में विशेष इष्ट-कृपा एवं सद्‌गुरु के दिव्य निर्देशन से काल-चक्र की परिधि के किसी बिन्दु पर जाकर इसने अवधारणा कर ली, कि **मैं केन्द्र-बिन्दु हूँ।** परिधि के एक बिन्दु को केन्द्र-बिन्दु की अवधारणा ही हो सकती है, वह केन्द्र-बिन्दु तो बन ही नहीं सकता। **चक्र की परिधि का प्रत्येक बिन्दु स्वयं में परिधि का प्रारम्भ भी है और अन्त भी है।**

'भस्मी' जन्म-मृत्यु के मध्य के जीवन-काल व देह के अन्त होने के बाद बनती है। वह **अन्तान्त** है। प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त सबका समान है। यह निराकार है और अकाल है। हमारी जितनी भिन्नताएँ, वैर, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धाएँ, पसन्द-नापसन्द, विविधताएँ, अनेकताएँ, भेद, अव्यवस्थाएँ, गोल-माल, विवाद, झगड़े, बहस आदि हैं, वे **मध्य** में हैं। जीवन का प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त निर्विवाद है, समान, अकाल और निराकार है। जीवन के मध्य में यदि जीव, जीवन के **अन्तान्त,** यानि **भस्मी** की अवधारणा कर लेता है तो मध्य का खेल **'अनेकता में एकता' तथा 'असमानताओं में समानता'** हो जाएगा। **एक जीवात्मा का वह वैविध्य अनुपम होगा।** क्योंकि वह देह रूपी जीव नहीं है। उसको मिली एक देह तथा उस पर आधारित समस्त सृष्टि का कारण परमात्मा ही है।

किसी नाटक या फिल्म के मध्य में मध्यान्तर होता है। यह मध्य+अन्तर=मध्यान्तर, उस फिल्म या कथा का मध्य है। उसे मध्यान्तर इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह लगभग प्रारम्भ और अन्त का मध्य होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जन्म और मृत्यु के मध्य में हमारा जीवन-काल है। **जीवन के मध्य में जीवन के अन्तान्त (भस्मी) की अवधारणा**

मध्य+अन्तान्त=‘मध्यान्तान्त’ है। ये शब्द मात्र मानव-जीवन के लिए प्रयुक्त हो सकते है—**प्रारम्भारम्भ, अन्तान्त और मध्यान्तान्त।** सद्‌गुरु बताता है कि तू उस अन्तान्त को जीवन के मध्य में अवधारणा में ले आ। तो इस मध्यान्तान्त से तेरा काल-चक्र ही टूट जाएगा। जीवन का अन्त मृत्यु और मृत्यु का अन्त **‘भस्मी’,** जन्म-मृत्यु की कल्पना से बाहर है। **परिकल्पित जीवन का अन्तान्त यथार्थ है।** कल्पित **जीवन में** भविष्य परिकल्पना है। अवधारणा कल्पना की नहीं हो सकती। अवधारणा सत्य या यथार्थ की होगी। उस अवधारणा में **तेरे मानस में वैराग का बीजारोपण हो जाएगा।** तब तेरे मन को शान्ति व स्थिरता मिलनी प्रारम्भ हो जाएगी। तेरे घर में वेदों, पुराणों, श्रुतियों, स्मृतियों, उपनिषदों आदि का आवागमन प्रारम्भ हो जाएगा। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य आदि जिन विभूतियों के लिए तू युगों-युगान्तरों से भाग रहा था, उन विभूतियों के प्रति तेरा मोह समाप्त हो जाएगा। उस वैराग रूपी पुत्र के मानस रूपी गर्भ में आते ही देव-लोक की राग-रागनियाँ, संगीत, शहनाइयाँ, तुरही आदि विभिन्न वाद्य संगीत के अनहद नाद या ध्वनियाँ गूँजनी प्रारम्भ हो जाएँगी। नाग-किन्नर, देव-कन्याओं, अप्सराओं का नृत्य प्रारम्भ हो जाएगा। **इस वैराग रूपी पुत्र का प्रकाट्‌य माँ जगदम्बा करेगी, क्योंकि वही प्रमाणित करेगी कि यह विशुद्ध वैराग है।**

जहाँ हमने काल-चक्र के मध्य में भस्मी की अवधारणा कर ली तो गर्भों के गर्भ में **वैराग** की धारणा हो जाती है। जब आनन्दमय, उल्लसित, उन्मादित, पागल, मुदित, मस्त मन जीवन-काल के काल-चक्र में किसी भी बिन्दु पर भस्मी की अवधारणा करता है, कि **‘मैं भस्मी हूँ’,** तो वहाँ वैराग का बीज पड़ जाता है। गर्भ ठहर जाता है और उसकी पुष्टि होने पर वैराग रूपी पुत्र पैदा हो जाता है:—

‘‘हिरण्यगर्भ गर्भस्थं हेम बीजं विभावसो,
अन्तम् पुण्यं फलदमतः शान्तिं प्रयच्छ मे।’’

सारे ब्रह्माण्ड अथवा समस्त जीव-सृष्टि को समेटे हुए एक

जीवात्मा रूपी जीव सद्‌गुरु-कृपा से जब भस्मी की अवधारणा जीवन-काल में करता है, तो उस धारणा का प्रकाट्य वैराग के रूप में होता है। वैराग रूपी पुत्र प्रकट होने के बाद धीरे-धीरे बड़ा होगा और ईश्वरीय कामना **'भक्ति'** को प्राप्त होता हुआ, ईश्वरीय अनुराग रूपी मोक्ष को प्राप्त करेगा। मानवीय मन, वैराग को धारण नहीं कर सकता। जब सद्‌शिष्य को ईश्वरीय भक्ति में आनन्द की झलक मिलने लगती है, तो उसका मन ईश्वरीय होना शुरू हो जाता है। वैराग रूपी उत्तम सन्तान को धारण करने के लिए ईश्वरीय आनन्द से ओत-प्रोत मन चाहिए। हम काल-चक्र में वह केन्द्र-बिन्दु ढूँढ रहे थे, जो परिधि से बाहर है। इसलिए विभिन्न काल-चक्रों की परिधियों में युगों-युगान्तरों से घूम रहे थे। **जिस दिन उस भस्मी की अवधारणा हो जाएगी, तो परिधि में ही केन्द्र पैदा होना शुरू हो जाएगा।** सद्‌गुरु निर्देश देता है, कि भस्मी तेरी है, तेरा अधिकार है। उसकी अवधारणा कर ले, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ'। तेरी देह का यह भविष्य तो निश्चित है। जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधी **देह में** विभिन्न अनिश्चित भविष्यों की तो तू परिकल्पना करता रहा है। यदि इस काल-चक्र की किसी भी स्थिति पर तेरी देह छूट जाती है, तो भस्मी तो बनेगी ही। जब तू वहाँ उस भविष्य में पहुँचेगा, तो तू नहीं होगा।

भस्मी कवच है, उसे जीते जी धारणा में नहीं लाएँगे तो फिर दूसरे काल-चक्र में विस्मृत होकर, असमर्थ व अशक्त होकर, परिस्थिति व स्थितिहीन होकर प्रविष्ट हो जाएँगे। जहाँ पुनः लक्ष्यहीन लक्ष्य निर्धारित करेंगे। मैं विचार करूँ, कि **जब जीवन में अस्थायी पदों के लिए लालायित हो सकता हूँ, जो मैं जानता हूँ, हमेशा नहीं रहेंगे, तो उस स्थायी, अक्षुण्ण, अविरल व अकाट्य वैराग-पद के लिए लालायित क्यों नहीं हो सकता?** उसके लिए मुझे करना कुछ नहीं है। सद्‌गुरु ही बताएगा, कि किस प्रकार जीवन-काल में तुम देह से देहातीत, अक्षुण्ण पद को प्राप्त कर सकोगे। अपनी देह के इस प्रत्यक्ष-दर्शित भविष्य को धारण

करने का सद्गुरु-कृपा से अभ्यास करना पड़ेगा। **एक जन्म में इष्ट-कृपा से इसकी धारणा ही बन जाए तो भी पर्याप्त है, शेष सब कार्य तो प्रभु-कृपा से ही होगा।** ये कार्य हमारे करने से नहीं होगा, बस केवल हम आश्वस्त हो जाएँ, कि यही एक मार्ग है, जिससे पंच-महाभूतों की मायिक सृष्टि व काल-चक्र से बाहर आया जा सकता है।

सद्गुरु कहता है, कि तेरा स्वभाव है, प्रकृति है, कि भविष्य खड़ा करके तू उसमें विचरता है। जीवन **में** भविष्य तो अनंत हैं और अनिश्चित हैं। तो तू जीवन **का** यह निश्चित, परिलक्षित भविष्य अपने जीवन्त वर्तमान में खड़ा कर ले। अवधारणा कर ले, कि **तू भस्मी बन गया है।** वह भविष्य आएगा ही और कभी भी आ सकता है, उसके लिए तुझे कुछ करना नहीं है, मात्र अवधारणा करनी है। जीवन में विभिन्न विषयों को ढोकर तो तुझे बहुत संघर्ष करना पड़ता है। कृपा होगी तो वह भस्मी तेरी धारणा में आ जाएगी। **तेरे जीवन-काल के वर्तमान में बस भविष्य ही अनिश्चित था, अब भविष्य सुनिश्चित हो गया है।** वर्तमान और अतीत तो पहले ही सुनिश्चित थे। **'भस्मी'** तेरे जीवन का ऐसा भविष्य है, जो किसी काल से बँधा नहीं है। जीवन **में** अन्य जितने भी भविष्य हैं, वे सब काल से बँधे हैं, इसलिए अनिश्चित हैं। लेकिन 'भस्मी' तेरे जीवन **का** ऐसा भविष्य है, जो काल की किसी विधा में बँधा नहीं है, इसलिए **अकाल** है। वह किसी काल-गणना में नहीं आता। मृतक देह निश्चित रूप से भस्मी कब बनी, इसकी गणना कोई नहीं कर सकता। **इस भविष्य की टक्कर से काल-चक्र ही ढह जाएगा।**

देह को बार-बार नश्वर कहना उसकी नश्वरता को पुष्ट करना है। जीवन और मृत्यु के काल्पनिक छोरों से बँधी काल्पनिक देह ही नश्वर है, **परन्तु जो इसे नश्वर घोषित कर रहा है, वह तो शाश्वत् है।** इसी नश्वर काल्पनिक देह का उचिततम प्रयोग आपने सद्गुरु-कृपा से इसके अन्तिम भविष्य 'भस्मी' की अवधारणा के लिए किया और परम इष्ट-कृपा से वैराग की धारणा हो गई। **वैराग की धारणा होते ही नश्वर देह यथार्थ व**

शाश्वत् हो गई। इस प्रकार प्रभु-कृपा से आप देह की नश्वरता को नष्ट कर दीजिए, पुष्ट मत करिए। वही नश्वर देह आपकी शाश्वतता का प्राकाट्य कर देगी और यथार्थ देह में रूपान्तरित हो जाएगी।

युगों-युगान्तरों से हम विभिन्न देहों में देह की नश्वरता को ही पुष्ट करते रहे। देह की नश्वरता के दौरान जीवन-काल में यदि 'भस्मी' की अवधारणा की पुष्टि हो जाती है, तो हम भस्मीमय मानसिक स्थिति में रहने लगते हैं। उसका एक निश्चित, दर्शित व परिलक्षित भविष्य है—**वैराग।** क्योंकि **भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व है,** जिससे **विभूत्यातीत विभूति वैराग** का प्रकाट्य होता है। जिसके प्रकट होते ही नश्वर देह, काल-चक्र और काल्पनिक देह सब समाप्त हो जाते हैं। काल-चक्र का जीवन-काल में थमना हमें भी अकाल स्थिति में ले जाता है। पहले हम जीवन-काल **में** अनिश्चित भविष्यों को, अज्ञात रूप से ढोकर उसके लिए संघर्ष कर रहे थे, अब भस्मी की अवधारणा और वैराग के प्रकटीकरण पर हमारे द्वारा अनजाने में सब कुछ होना शुरू हो जाएगा।

भस्मी रूप वह भविष्य न केवल काल से परे है, वह पंच-महाभूतों से परे, तत्त्वातीत व देहातीत भी है। वह प्रकृति से परे है। देह का भविष्य देहातीत है। जो देहातीत है, वह तत्त्वातीत और मायातीत भी है, इसलिए वह आनन्द है। **यदि उसकी एक निमिष के लिए भी अवधारणा हो गई तो भविष्य की योजनाएँ, परियोजनाएँ बनाने वाला हमारे भीतर का अहं समाप्त हो जाएगा।** वह अहं इसलिए समाप्त हो जाएगा, क्योंकि जितनी भविष्य की योजनाएँ थीं, वे ईश्वर की पाँच विभूतियों—सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति के लिए थीं। तो भस्मी की अवधारणा होने पर छठी विभूत्यातीत विभूति **वैराग** का प्रकटीकरण हो जाएगा। **यह वैराग ही धर्म है।** हमने जिन चिन्हों, चक्रों और पद्धतियों को धर्म माना है, वह हमारा भ्रम है। इष्ट-कृपा से **भस्मी की अवधारणा परिपक्व होने से वैराग धारण हुआ, तभी धर्म प्रकट होता है। यह वैराग रूपी धर्म ही ईश्वरीय कामना—'भक्ति' के रूप में प्रतिफलित होता है, जो मोक्ष का द्वार है।**

सम्पूर्ण वक्तव्य का सार यह है, कि देह व जीवन **में** भविष्यों की धारणा अवैध है, क्योंकि भविष्य में आने वाला अगला पल ही सुनिश्चित नहीं है। यह अवैध **राग** ही **रोग** बनकर जीव के लिए अतृप्ति, असंतुष्टि, आसक्ति, भय, विक्षेप, त्रास, आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण एवं अकाल-मृत्यु का कारण बनता है। जन्म-दर-जन्म **काल-चक्र का दृश्य बनने पर विवश कर देता है।** जीवन में कुछ भी भौतिक निरन्तरता नहीं है। एक काल-चक्र में जो कुछ भौतिक प्राप्तियाँ होती हैं, उन्हें यहीं छोड़कर आसक्तिवश जीव को दूसरे काल-चक्र में प्रविष्टि मिलती है। जहाँ उसमें स्मृति, शक्ति, समर्थ, स्थिति व परिस्थिति कुछ नहीं होती, पुनः लक्ष्यहीन लक्ष्य लिए शून्य से प्रारम्भ करना पड़ता है। जीवन आध्यात्मिक व आत्मिक निरन्तरता है, जिसकी वह महाकालेश्वर स्मृति भी देता है, शक्ति, समर्थ, स्थिति व परिस्थिति सब कुछ देता है। यदि जीवन-काल में सद्गुरु-कृपा से जीवन **'के'** भविष्य की अवधारणा की धारणा बन जाती है, तो यह **भस्माराग, वैध राग बनकर वैराग में रूपान्तरित हो जाता है। वैराग, अराग या रागहीनता नहीं है, बल्कि वैध राग है।** वैराग की धारणा ही जीव को जीवात्मा स्वरूप में स्थिति दिलाकर **काल-चक्र का दृष्टा बना देती है।**

जीवात्मा की वैरागमयी मनःस्थिति अगले जन्म में न केवल अनवरत, सतत्, अविराम और अविच्छिन्न आगे चलती है, बल्कि उसे संशोधित व परिवर्द्धित रूप में मिलती है। इस श्रंखला में देह बदलने से कोई बाधा नहीं आती। **होश सम्भालते ही जीव की ज्ञात अथवा अज्ञात समस्त क्रियाएँ उसी ओर जाने के लिए होती हैं। उसके लिए उसे कोई वेदशास्त्र या विभिन्न भौतिक डिग्रियों की पढ़ाई नहीं करनी पड़ती। वेद-शास्त्र इसके संगी-साथी होते हैं, जो भीतर से प्रस्फुटित होते हैं। उसका तोतलापन श्रुतियाँ होती हैं। मातृ-शक्ति श्रुति, लोरियों में उसका अन्तर्ज्ञान जाग्रत करती है। वह काल से बँधा नहीं होता, काल उससे बँधता है।** यह सुविधा और अधिकार प्रभु अपने उन प्रेमियों को देते

हैं, जो केवल प्रभु की चाह, इच्छा व आकांक्षा में जन्म-दर-जन्म उन्हीं की शरण में पड़े रहते हैं। एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब प्रभु-कृपा से वे मुक्त हो जाते हैं।

व्यास या सद्‌गुरु तो पारब्रह्म परमेश्वर का ही साकार रूप होता है। इसलिए काल-चक्र की परिधि के जिस बिन्दु पर सद्‌गुरु का प्रकाट्य हुआ, वही परिधि का अन्तिम बिन्दु भी होता है। व्यास के प्रकटीकरण के साथ ही काल-चक्र दो टुकड़ों में बँट जाएगा। **यदि कोई गुरु, किसी शिष्य को Beginner या नौसिखिया कहता है, तो इसका अर्थ है, कि वह स्वयं सद्‌गुरु या व्यास नहीं है।** व्यास तो वह सरल रेखा है, जो चक्र की परिधि के ठीक विपरीत बिन्दुओं को केन्द्र-बिन्दु को छूते हुए मिला देती है। वृत्त के दो टुकड़े हो जाते हैं। व्यास का दूसरा गुण यह है, कि एक ही केन्द्र पर आप असंख्य परिधियाँ बनाएँ, तो सभी को व्यास दो टुकड़ों में बाँट देगा। उन करोड़ परिधियों के व्यास की लम्बाई कम-ज्यादा होगी, लेकिन केन्द्र एक ही होगा। काल-चक्र के दो भागों में, एक भाग अनुभूति का क्षेत्र होता है (Area of Realisation) और दूसरा उपयोगिता का क्षेत्र (Area of Utilisation) होता है। अब व्यास के प्रकट होते ही काल-चक्र के Realisation और Utilisation दो भाग कैसे हो गए। यदि कोई सद्‌शिष्य है और उसे वास्तव में सद्‌गुरु भी मिला है, तो यह ईश्वरीय विधान है, कि वह सद् की अनुभूति का अधिकारी होगा। इसके बाद उसके जीवन में मात्र उन अनुभूतियों का सदुपयोग रह जाता है।

जन्मों-जन्मान्तरों से आप **'सद'** की अनुभूति के अधिकारी हैं, तभी तो सद्‌गुरु प्रकट हुआ। उसके बाद तो मात्र सद्‌गुरु-कृपा से **अनुभूतिगम्य जीवन** का आनन्द लेना होता है। सद्‌गुरु मिल जाए तो फिर क्या करना शेष है ! **सद्‌गुरु अनुभूतिगम्य जीवन के योग्य बना देता है, कि किस प्रकार वह देह से हुई अनुभूतियों का देह में सदुपयोग करके जीवन को अत्यधिक आनन्दमय बनाए।** सद्‌गुरु कहता है, यदि तूने सुख-दुःख, दोनों विपरीत ध्रुवों का आनन्द लेना है तो मेरे पास केन्द्र में

आकर बैठ जा। यदि घूमना है तो यह सोच कर चल कि यहाँ सब अदला-बदली के सौदे हैं, जो तेरे हाथ में नहीं हैं। ऐसे महापुरुष जिन्होंने केन्द्र को पा लिया है, जिनका वर्तमान उनके भूत व भविष्य पर सवारी करता है, उनकी सारी पुरानी कथाएँ, पौराणिक गाथाएँ होती हैं। उनके जीवन की लीलाओं का गान करिए, उनकी कथाएँ सुनिए, आपको प्रेरणाएँ मिलेंगी। उनका जन्म-दिवस मनाइए जोकि यथार्थ जन्म-दिवस होगा। उससे आपको सुख-शान्ति और उन महापुरुषों तथा अवतारों का आशीर्वाद मिलेगा। फिर आपका जीवन ही उत्सव बन जाता है। **व्यापार करना है, व्यापारोत्सव, युद्ध करना है, युद्धोत्सव, परीक्षा देनी है, परीक्षोत्सव। जन्मोत्सव, मृत्योत्सव यानि जीवन का हर प्रकरण उत्सव ही बन जाता है।** सद्‌गुरु मार्ग नहीं बताता, वह मंज़िल से अवगत कराता है, कि तुम वहीं हो।

मर्यादाएँ, धारणाएँ, मान्यताएँ, कर्तव्य, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, सम्बन्ध, सब काल्पनिक हैं। भगवान राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनकी मर्यादा, असीम मर्यादा है, क्योंकि काल्पनिक देह में उनकी मर्यादा को कोई छू भी नहीं सकता। उनकी मर्यादा इतनी उत्तम है (पुरुष+उत्तम= पुरुषोतम) कि कोई उसका अनुसरण कर ही नहीं सकता। श्रीकृष्ण, हर लीला में असीम हैं, उनकी लीला का अनुसरण हो ही नहीं सकता। राम की मर्यादा को काल-चक्र में घूमते हुए हम समझ ही नहीं सकते। हमको यथार्थ देह में आना होगा, देहातीत होना होगा। देह में रहकर हम इस मर्यादा के बारे में विचार भी नहीं कर सकते। हमें केन्द्र से देखना होगा, तभी अयोध्या का राज्य और वन-गमन एक ही दिखाई देगा। तभी स्वर्ण की नगरी द्वारका का निर्माण और उसे समुद्र में डुबा देने में अन्तर नहीं दिखेगा। **निर्माण, पालन व संहार सभी आनन्दमय हो जाएगा। आनन्द असीम है, सुख-दुःख दैहिक मर्यादाओं में हैं। आनन्द देहातीत है।**

हमारे जितने भी सन्त, महापुरुष या पीर-पैगम्बर लीला में अवतरित हुए हैं, वे असीम मर्यादा में खेले हैं। उन्होंने यथार्थ जीवन जिया है। वे

काल-चक्र में **घूमते से** प्रतीत होते हैं और लीला करते हैं। समस्त मायिक इन्द्रजाल उनकी क्रीड़ा होती है। जब वे महापुरुष, पीर-पैगम्बर लीला करने किसी देश-काल में उतरते हैं, तो देश-काल की विशिष्ट विधाएँ उनकी सेवा में रहती हैं। वे विधाएँ उनसे सम्पृक्त होकर स्वयं को धन्य मानती हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण, गुरुनानक देव आदि अवतारी पुरुषों ने किसी आसक्ति व चाहत की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लिया। इसलिए ***'जहाँ राम तहाँ अवध,' 'जहाँ शिव तहाँ काशी।'*** अयोध्या राम से बँध कर स्वयं को धन्य मानती है, मथुरा व वृन्दावन कृष्ण से जुड़कर कृत-कृत्य हैं। जब-जब रामजन्म होगा, तो वह चैत्र मास शुक्ल पक्ष की नवमी ही होगी। जब-जब कृष्ण का अवतरण होगा, वह भाद्रपद, कृष्ण पक्ष की अष्टमी ही होगी। इस प्रकार जो कालातीत है, उससे देश-काल की विशिष्ट विधाएँ, बँध कर स्वयं को धन्य मानती हैं।

मानव-देह प्राप्त करके जीवात्मा का एक मात्र लक्ष्य, देह के द्वारा इस परम सत्य की अनुभूति करना है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(9 से 30 नवम्बर, 2005)

काल-चक्र

(भाग – 3)

जीवन, जन्म से प्रारम्भ होता है और मृत्यु में इसका अन्त हो जाता है। अपना जन्म और अपनी स्वयं की मृत्यु इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आज तक न किसी ने देखी है और न भविष्य में देख पाने की सम्भावना ही है। इसलिए जीवन के ये दोनों छोर काल्पनिक हैं। लेकिन स्वभाववश और अज्ञानवश हमने अपना आरम्भ, जन्म से और अन्त, मृत्यु से मान लिया। यही सुविधाजनक भी था। अतः काल्पनिक जन्म और मृत्यु के बीच का काल भी काल्पनिक है। हम सब काल्पनिक जीवन व्यतीत करते हुए उसी में व्यस्त हैं। न केवल व्यस्त हैं, बल्कि उन्हीं कल्पनाओं में स्वयं को कर्मठ, परोपकारी, पुण्यी, पापी, सुखी-दुःखी, यहाँ तक कि कर्मयोगी तक माने हुए हैं। इसीलिए इस काल्पनिक जीवन में अन्ततः कलपते-कलपते ही मर जाते हैं।

जीवन के इस प्रारम्भ का भी एक आरम्भ है। जब माँ के गर्भ में हमारी देह के लिए गर्भाधान हुआ, वह जीवन का **'प्रारम्भारम्भ'** है। यह प्रारम्भारम्भ निराकार है और अकाल है। उस विशिष्ट समय को कोई मानवीय बुद्धि गणना में नहीं ला सकती और उस बिन्दु स्वरूप भ्रूणावस्था को नग्न आँखों से देखा भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार मानव-देह का अन्त मृत्यु है लेकिन इस अन्त का भी एक अन्त है–**'भस्मी'**। अन्त का अन्त, **'अन्तान्त'** भी अकाल व निराकार है। जो निराकर होगा, वह अकाल भी होगा। मृत्यु के बाद सम्पूर्ण देह की भस्मी कब बनेगी, उस समय की गणना कोई नहीं कर सकता। अतः मानव-देह व जीवन के प्रारम्भ (जन्म) का एक **प्रारम्भारम्भ** है।

लगभग 9 महीने का माँ के गर्भाधान का समय है, फिर जन्म होता है और जीवन-काल आरम्भ हो जाता है। यह जीवन-काल अनियमित रूप से अनियमित (Irregularly Irregular) है। इस जीवन-काल का कोई क्रम नहीं है, क्योंकि जन्म लेने के बाद, किसी भी पल इसका अन्त हो सकता है। यह नहीं कि जीव बचपन, जवानी, बुढ़ापे के बाद ही मरेगा। ऐसा कुछ नहीं है, इसका कोई नियम नहीं है। कुछ बच्चे तो गर्भ-काल के दौरान ही नहीं रहते, उसे गर्भपात् कहा जाता है। अर्थात् प्रारम्भारम्भ के बाद किसी भी क्षण अन्त हो सकता है। यह बेकायदगी या अनियमितता ही ईश्वरीय प्रकृति का नियम है। **लेकिन प्रारम्भ के बाद अन्त अवश्यम्भावी है।** तो मानव-जीवन का अन्त मृत्यु में होता है। इस अन्त का भी एक अन्त है **'भस्मी'**, जिसे **अंतान्त** कहा जा सकता है। मृत्यु और भस्मी के मध्य का समय भी अनियमित है, क्योंकि यह मानव के हाथ में है। प्रारम्भारम्भ (माँ के गर्भ में गर्भाधान) और प्रारम्भ (जन्म) के मध्य का समय प्राकृतिक था, अतः सभी का लगभग 9 महीने, कुछ दिन था। लेकिन अन्त (मृत्यु) और अन्तान्त (भस्मी) के मध्य का समय पृथक्-पृथक् होता है, क्योंकि यह मानव की अपनी व्यक्तिगत सुविधा, परिस्थितियों आदि पर निर्भर करता है। मानव के पास प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा है, कि वह प्रकृति का बाध कर सकता है। पाश्चात्य देशों में मृतक-काया को पाँच-छः दिनों तक रख लेते हैं, Funeral Services बारी आने पर Appointment देती हैं।

यह प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त सबके लिए एक ही हैं। दोनों निराकार हैं और अकाल हैं तथा इन दोनों में जीवन का रहस्य छिपा है। **न तो बिन्दु-स्वरूप 'भ्रूणावस्था' में किसी को पहचाना जा सकता है और न अन्तान्त 'भस्मी' को किसी विशेष नामरूप से सम्बद्ध माना जा सकता है। मानव-देह की ये दोनों अति महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं, जिनमें सम्पूर्ण अध्यात्म अन्तर्निहित है।** हमारा जीवन तथाकथित प्रारम्भ होता है जन्म से, जब हमारी देह ने एक आकार लिया। मानव-शिशु **'देहाभास'** के कारण अपनी देह के सुख-दु'ख से प्रभावित होने लगता है। उसे देहाभास तो होता

है, परन्तु देहाध्यास नहीं होता। देह पर आधारित जगत से उसे कुछ लेना-देना नहीं होता, लेकिन वह समस्त जगत उसकी पूरी तरह से देखभाल करता है। उसके हर सुख-दुःख का ध्यान रखता है। लेकिन जैसे ही मानव-शिशु होश सम्भालता है, उससे एक बड़ी भूल और हो जाती है। वह स्वयं को देह के साथ ही पहचानना प्रारम्भ कर देता है, कि 'मैं यह देह ही हूँ'। **जैसे ही देह के आकार के साथ स्वयं को पहचाना, तो वहीं से हम जन्म और मृत्यु के बीच बँधी इस देह के साथ, इसके काल से भी बँध गए। तभी से हमारी एक अनिश्चित व काल्पनिक काल-चक्र में प्रविष्टि हो जाती है।**

एक निश्चित समय पर, विशिष्ट ग्रह-नक्षत्रों में विशिष्ट माता-पिता के अंश से, विशिष्ट देश-काल-परिस्थिति में, विशेष पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों में **'भ्रूणावस्था'** से जीवात्मा के लिए माँ के गर्भ में देह बननी शुरू हुई। लगभग 9 महीने गर्भ में पूर्ण मानव के रूप में विकसित होने के बाद, मानव-शिशु का इस धरा पर पदार्पण होता है। बचपन आता है, किशोरावस्था आती है, जवानी प्रारम्भ होती है और समाप्त होती है। प्रौढ़ावस्था आती है, वृद्धावस्था आती है, अति वृद्धावस्था आती है और मृत्यु हो जाती है। मानव-देह का अन्त हो जाता है और अन्ततः मानव-काया भस्मी में परिणत हो जाती है। यह भस्मी ही मानव-देह का अन्तान्त है, लेकिन इस अन्तान्त के साथ जीव बने जीवात्मा का काल-चक्र समाप्त नहीं होता। वह दूसरे काल-चक्र में प्रवेश कर जाता है। **काल-चक्र समय का चक्र है जो अविराम, सतत् चलता रहता है। एक काल-चक्र से दूसरे काल-चक्र में जीवात्मा प्रविष्ट होती है और पुनः काल-चक्र की परिधि के प्रारम्भारम्भ और उपर्युक्त विभिन्न अवस्थाओं से होती हुई अन्तान्त में पहुँचती है। यह सिलसिला युगों-युगान्तरों से अविराम व अविरल चल रहा है।**

काल-चक्र की परिधि की विभिन्न अवस्थाओं में हम कभी कुछ खोते हैं, कभी कुछ पाते हैं। कभी किसी से मिलते हैं, कभी बिछुड़ते हैं, कभी कुछ देते हैं, कभी लेते हैं, कभी लाभ होता है, कभी हानि होती है। सुख-दुःख मिलता

है, बहुत सा तमाशा होता है। जो भी हम पाते हैं, वह नहीं रहता, जो खोते हैं, वह भी नहीं रहता, **क्योंकि मानव-देह जन्म-मृत्यु के साकार, काल-बद्ध व काल्पनिक छोरों में बँध कर नश्वर हो जाती है।** यथार्थ देह से काल्पनिक देह हो जाती है। हम अपनी बीती हुई ज़िन्दगी व मान्यताओं पर पुनर्विचार करें तो पाएँगे, कि विभिन्न स्थितियों में जो कुछ भी हमने चाहा और पाया वह जाने-अनजाने, मूर्खतावश, अति बुद्धिमत्तावश अथवा किसी अन्य कारण से खो देते हैं। जीवन-काल में नहीं खोते तो काल-चक्र का नियम है, कि जीवन के अन्त में अवश्य खो देते हैं। हम यह जानते हैं कि इस मध्य के जीवन-काल में जो कुछ भी एकत्र कर रहे हैं—धन-प्रौपर्टी, सम्पदा, डिग्रियाँ, पद-प्रतिष्ठा, प्रभाव, प्रतिभाएँ सब यहीं रह जाएगा। जिससे हम मिले हैं, उससे बिछुड़ेंगे अवश्य और जिससे बिछुड़े हैं उससे पुनः मिलें या न मिलें। ये सब जीवन के अति साधारण, स्पष्ट लेकिन बहुत सार्थक एवं विशिष्टतम तथ्य हैं, जिन्हें हम अक्सर जानबूझ कर या अज्ञात रूप से उपेक्षित किए रहते हैं।

जन्म से लेकर मृत्यु तक के मध्य के जीवन-काल में हम सब साकार व पृथक्-पृथक् हैं। सबकी शक्ल-अक्ल, चाल-ढाल, रंग-रूप, गुण-अवगुण, प्रतिभाएँ-विशेषताएँ, नाम-रूप, पद-प्रतिष्ठा, प्रौपर्टी, नाम-यश, बुद्धि-बल, शक्ति-निर्बलता, आर्थिक स्थितियाँ, परिवार, सम्बन्ध सब पृथक्-पृथक् हैं। हम जानते हैं, कि **'अन्तान्त'** में सब एक ही जैसे हो जाएँगे। भस्मी में कुछ वज़न का अन्तर हो सकता है पर भस्मी तो भस्मी है। सद्गुरु-कृपा से हम यह भी जानते हैं, कि जो कुछ भी हमने जीवन में तथाकथित प्राप्त किया है, वह हम कुछ न भी करते तो भी पाना ही था। जब हमने होश सम्भाला तो अपनी देह, परिवार, समाज, सम्बन्धियों आदि को अपने साथ पाया, जिसके लिए हमने कुछ नहीं किया। यह देह बनी बनाई मिली और मेरी अबोधता में इसकी देखभाल हुई तथा ऐसे ही यह जाएगी। कब जाएगी, कैसे जाएगी हम नहीं जानते, लेकिन फिर भी हम तथाकथित बहुत व्यस्त हैं। हमारे पैदा होने से पहले भी संसार चल रहा था और मरने के बाद भी चलेगा यह भी हम जानते

हैं। यदि विचार करें तो पाएँगे कि आवश्यक रूप से तो मात्र **पिता के नौ सैकेण्ड और माता के नौ महीने ही आपकी सन्तान को आपसे चाहिए।** यदि किसी शिशु का पालन-पोषण होना ही है तो बिना माँ-बाप के भी हो जाएगा और यदि नहीं होना है तो सर्वसम्पन्न माता-पिता के होते हुए भी वह नहीं हो पाता। **सबका माता-पिता वही एक ईश्वर है।** यदि आप अपने बच्चों के लिए कुछ कर रहे हैं, तो वह मात्र ईश्वर की इच्छा व उसी की शक्ति से कर रहे हैं। आप अपने अहं के कारण अनावश्यक रूप से उनकी ज़िन्दगी में हस्तक्षेप करते हैं। तुलसीदास की माँ और पिता उनकी बाल्यावस्था में ही नहीं रहे और उनके द्वारा रचित एक-एक चौपाई पर लोग पी.एच.डी. करते हैं।

इस मध्य के जीवन-काल में हम स्वयं को मूर्ख ही बना रहे हैं। कल क्या होगा हम नहीं जानते, अगले पल में क्या हो, हम नहीं जानते। जिस जीवन में अगले पल की हमें सुनिश्चितता नहीं है, उसमें हम क्या कर सकते हैं? यदि इस मध्य के जीवन-काल में हमें आनन्दमय जीवन व्यतीत करना है तो जीवन के प्रति या तो **सकारात्मक-नकारात्मक** (Positive - Negative) दृष्टि रखनी होगी अथवा **नकारात्मक-सकारात्मक** (Negative-Positive) धारणा में जीवन जीना होगा। लेकिन दुर्भाग्यवश जीवन के प्रति हमारा रवैया या तो **सकारात्मक-सकारात्मक** होता है अथवा **नकारात्मक-नकारात्मक** होता है। मैं इन्हें सोदाहरण समझाने का प्रयास करूँगा। मान लो, कि कोई व्यक्ति डॉक्टर है। उसका एक प्रतिष्ठित नर्सिंग होम है और वह चाहता है, कि उसका बेटा भी डॉक्टर बने। यहाँ सकारात्मक-सकारात्मक दृष्टि के अनुसार वह सोचेगा कि पाँच वर्ष बाद मेरा बेटा डॉक्टर बन जाएगा तो मेरा जीवन सफल हो जाएगा। नकारात्मक-नकारात्मक सोच है, कि यदि मेरा पुत्र डॉक्टर **'न'** बन पाया तो मेरा जीवन असफल हो जाएगा। मेरे बाद मेरे नर्सिंग होम का क्या होगा? इन दो दृष्टिकोणों वाले व्यक्ति जीवन भर स्वयं भी व्यथित, परेशान, त्रसित एवं भयभीत रहते हैं और अपने आस-पास के लोगों के लिए भी सिरदर्दी बने

रहते हैं। **ये अधिकतर तनाव और डिप्रैशन में रहते हैं और मानसिक तौर पर भी बीमार होते हैं।** यदि वह यह सोचे कि बेटा डॉक्टर बन गया तो भी अच्छा है न बने तो और भी अच्छा है। यह सकारात्मक-नकारात्मक दृष्टि है। अब यदि वह यह सोचे कि बेटा डाक्टर न बन पाया तो भी क्या हो जाएगा, प्रभु जो करेंगे, हित में ही करेंगे। यह नकारात्मक-सकारात्मक दृष्टि है। इस प्रकार वह स्वस्थ, उल्लसित व आनन्दमय जीवन व्यतीत करेगा।

यह दृष्टिकोण कैसे हो? इसके लिए हमको देखना होगा कि मैं इस काल्पनिक काल-चक्र में काल की किस विधा (भूत, भविष्य या वर्तमान) में जी रहा हूँ। हम पाएँगे **कि हमारा हर वर्तमान किसी न किसी भविष्य के लिए चिन्ताग्रस्त रहता है अथवा भूत के किसी शोक अथवा दुःख से बोझिल रहता है।** यद्यपि भविष्य का अगला पल ही मेरे लिए सुनिश्चित नहीं है, लेकिन फिर भी हम अहं से भविष्य की योजनाएँ बनाते रहते हैं। यहाँ पर दैवीय संस्थानों द्वारा डिवाइन पीनल कोड के तहत हम पर केस चलाए जाते हैं। हम सभी विभिन्न कष्टों के रूपों में वे दैवीय सज़ाएँ ही भुगत रहे हैं।

काल की तीन विधाएँ हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान। हम इन तीनों का आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण करेंगे। **'भविष्य'** शब्द का प्रथम वर्ण है **'भ'** और अंतिम वर्ण है **'य'**। ये दोनों मिलकर मेरे जीवन को **'भय'** से परिपूरित रखते हैं। **'भ'** और **'य'** के मध्य में **'विष'** है। हम उस भविष्य को जिसका अगला पल मेरे हाथ में नहीं है, उसे अपने वर्तमान में लाद लेते हैं। यह हमारी ईश्वर-प्रदत्त स्वाभाविक प्रकृति है। भविष्य की तो हम बात करते हैं, अज्ञात रूप से उस भविष्य को सुनिश्चित मान कर ज्ञात रूप से वर्तमान में कार्यरत रहते हैं। इस प्रकार भविष्य का **'विष'** व **'भय'** हमारे वर्तमान को आच्छादित कर देता है। वर्तमान में **'व' 'र' 'त' 'म' 'आ' 'न'** वर्ण हैं। प्रथम वर्ण है **'व'** और अन्त में **'आ'** तथा **'न'** से **'वान'** बना। मध्य में है **'र त म अ'** अर्थात् **अमरत—अमृत। वर्तमान 'अमृतवान' है और भविष्य भय और विष से व्याप्त है।** ये तुकबन्दी नहीं है, बल्कि इन शब्दों का स्वरूप है जो सार्थक, सटीक और प्रमाणित है। हमारा प्रत्येक वर्तमान जो मूलतः अमृतवान है, वह

भविष्य के भय और विष से दब जाता है। **जब वर्तमान पर भविष्य सवारी करता है तो उस वर्तमान पर भूत भी लद जाता है।** 'भूत' का अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है।

जो लोग जीवन में विभिन्न भविष्यों के लिए भाग-दौड़ व संघर्ष करते रहते हैं, भविष्य विष बनकर उनके अमृतवान वर्तमान को विषमय बनाकर उन्हें भयभीत रखता है। साथ में अतीत का भूत भी उन पर हावी रहता है। हम स्वयं निर्णय करें कि हमारे वर्तमान में जीवन किस प्रकार बीत रहा है? आज हर व्यक्ति तनावित और भयभीत है। नशा किए बिना और नींद की गोलियाँ खाए बिना, उन्हें नींद नहीं आती। सभी लोग घर, परिवार तथा अपने तथाकथित सम्बन्धियों से डरे रहते हैं। **क्योंकि प्रत्येक का जीवन्त व अमृतवान वर्तमान, भविष्य के भय और विष तथा भूत के द्वारा निर्देशित व संचालित है।** ड्राइवर गाड़ी चला रहा है, तो गाड़ी वहीं जाएगी, जहाँ वह चाहेगा। हम घोड़े की सवारी कर रहे हैं, तो घोड़ा वहीं जाएगा जहाँ हम चाहेंगे। तो जो हमारे वर्तमान पर सवारी करता है, हमारा वर्तमान उसके अधिकार में आ जाता है। काल की तीनों विधाओं में मात्र **'वर्तमान'** ऐसी विधा और काल है, जो **'अमृतवान'** है। भविष्य **'भय'** और **विष'** से ओत-प्रोत है, **भूत, पिशाच** बनकर हम पर हावी रहता है।

काल-चक्र एक काल्पनिक वृत्त या परिधि है, जो जन्म के काल्पनिक बिन्दु से प्रारम्भ होकर मृत्यु के काल्पनिक बिन्दु पर समाप्त होती है। हम कोई भी वृत्त बनाएँ तो जिस बिन्दु से हम प्रारम्भ करते हैं, उसी बिन्दु पर वृत्त की परिधि समाप्त होती है। **अतः जन्म और मृत्यु का बिन्दु एक ही है।** वृत्त की परिधि असंख्य बिन्दुओं के समूह से बनी है। जीवन, जन्म के शून्य से प्रारम्भ होता है और मृत्यु के शून्य पर ही अन्त हो जाता है। हम नंगे-भूखे संसार में लाए जाते हैं और मृत्यु होने पर शमशान में हमारे ऊपर डाला गया कफ़न भी डोम उतार लेता है। यदि कोई प्रश्न शून्य से शुरू होता है और हमें ज्ञात है, कि इसका परिणाम भी शून्य है, तो मध्य का भी समस्त हिसाब-किताब शून्य होना ही चाहिए, नहीं तो उत्तर शून्य नहीं आएगा। मध्य

के सारे जमा, घटा व गुणा, भाग भी शून्य ही होंगे। हमने जीवन, जन्म से आरम्भ माना है और मृत्यु को अन्त माना। जन्म-मृत्यु दोनों शब्दों के प्रथम वर्ण ले लीजिए—जन्म का **'ज'** और मृत्यु का **'मृ'** यानि **'मर'**, तो इस काल-चक्र की परिधि का प्रत्येक बिन्दु **'ज' 'मर'** अथवा **जा-मर** है। **कभी आप घड़ी की टिक्-टिक् को ध्यान से सुनो, तो आपको उसमें भी जा-मर, जा-मर या मर-जा, मर-जा की ध्वनि सुनाई देगी।** काल-चक्र की पहली विशेषता यही है, कि हर बिन्दु इसका प्रारम्भ भी है और अन्त भी है। जिस बिन्दु से चक्र शुरू होता है, उसी पर अन्त होता है। प्रत्येक बिन्दु चक्र के प्रारम्भ व अन्त का बिन्दु हो सकता है।

दूसरी विशेषता इस काल-चक्र की यह है, कि प्रत्येक बिन्दु किसी दूसरे से आगे है और किसी बिन्दु के पीछे भी है। घड़ी को आप जन्म-मृत्यु के मध्य, जीवन का काल-चक्र मान लीजिए। हम सब जीवन में आगे बढ़ना चाहते हैं। मान लो हम एक बजे वाले बिन्दु पर हैं, तो एक के बाद दो पर, फिर तीन, चार ऐसे ही आगे बढ़ते चलते हैं। नित्य प्रगति करते हैं। **एक** से प्रारम्भ करके, नित्य प्रगति करते-करते 12 तक पहुँचते हैं, लेकिन फिर **'एक'** पर पहुँच जाते हैं। **अतः इस जन्म और मृत्यु के बीच के जीवन के इस काल-चक्र में आगे बढ़ना यही है। चक्र जहाँ से प्रारम्भ होगा पुनः वहीं पहुँच जाएगा।** जीवन में प्रगति करने वालो ! काल-चक्र के इन नियमों से हम आँखें मूँद नहीं सकते। अन्ततः हम स्वयं धोखा खा रहे हैं। नौकरी मिलने के बाद हम पदोन्नति पर पदोन्नति पाना चाहते हैं और समस्त शक्तियों को लगाकर येन-केन-प्रकारेण उच्चतम पद पर पहुँच जाते हैं और रिटायर हो जाते हैं। क्या मिला हमें? जिस समय जो भी पद मिला, उसका भोग तो हम कर ही नहीं पाए, क्योंकि अगले पद की आसक्ति दौड़ाती रही। जो हम भाग-भाग कर पाते हैं, उसके भोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भविष्य का **'भय'** और **'विष'** अगले पद की आसक्ति के रूप में हमारे **अमृतवान वर्तमान** पर लदा रहता है। जो चैन से जीने नहीं देता।

मैं निराश नहीं कर रहा हूँ, लेकिन हमें मन-मस्तिष्क व रूह से,

आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि हम सब किस ओर आगे बढ़ रहे हैं। यह तो एक जन्म-मृत्यु के जीवन-काल में हुआ। मान लो उच्चतम पद तक पहुँचने से पहले ही मृत्यु आ जाए, तो उसकी आसक्ति हमें दूसरे काल-चक्र में ले जाएगी, जहाँ हम पुनः एक नवजात शिशु के रूप में धरा पर लाए जाएँगे और पुनः शून्य से प्रारम्भ करना होगा। जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है। वहाँ हम यह भी भूल जाएँगे, कि हम चाहते क्या हैं? इस प्रकार हम हवा में हाथ मारते रह जाते हैं। हमने कभी नहीं सोचा, कभी नहीं जानना चाहा, कि प्रभु ने मुझे मानव-देह के रूप में यह चमत्कारिक अजूबा दिया क्यों है? ईश्वर चाहता तो मुझे जलचर, नभचर, थलचर आदि में से कोई भी प्राणी बना सकता था। अतः उस परम पिता परमात्मा ने मानव-देह देकर, इसके जन्म व मृत्यु तक का समय दिया है। जन्म होने के बाद कोई भी पल इस जीवन का अन्तिम पल हो सकता है, हम सब मानव होने के नाते यह जानते हैं। इस समय को हम किस प्रकार व्यतीत कर रहे हैं, यह हम सोचते ही नहीं।

मैंने जन्म और मृत्यु के बीच के काल को, **इष्ट-कृपा से हुई अनुभूति के आधार पर सात वर्गों में बाँटा है—सामान्य, निरर्थक, नकारात्मक, सार्थक, विशेष, विशिष्टतम और घनिष्ठतम।** जन्म और मृत्यु के मध्य जीवन-काल में वह समय, जिसमें प्राकृतिक रूप से हम अपने नाम-रूप की प्रतीति में नहीं होते, वह **सामान्य-काल** कहलाता है। मैं उदाहरण दूँगा—एक शिशु माँ की गोद में निश्चिन्त खेलता रहता है। उसके लिए कोई नहीं कहता, कि वह समय व्यर्थ कर रहा है। सुषुप्तावस्था में हम अपने नाम-रूप की पहचान में नहीं होते। सोए हुए हमें स्वयं भी समय का ज्ञान नहीं होता। कोई दूसरा भी हमें जगाकर ही कहेगा, कि क्यों सो रहे हो? क्योंकि सुषुप्तावस्था में मेरे लिए मैं और मेरा जगत होता ही नहीं। सम्पूर्ण जगत मेरी अपनी देह की मान्यता पर ही आधारित है। जब हमें अपनी मान्यता नहीं होती, तो किसी की भी मान्यता नहीं होती। हम अपनी इन भौतिक मान्यताओं में भी भ्रमित और अधूरे हैं। मैं सोदाहरण अपनी बात स्पष्ट करूँगा।

सभी मान्यताएँ मन से होती हैं। संसार की विभिन्न मान्यताओं से पहले अपनी देह को मान्यता देनी परमावश्यक है। पैदा होते ही जीव को अपनी देह की मान्यता रूप में देहाध्यास नहीं था, इसलिए उसे कोई मान्यता नहीं थी। मैंने **'देहाभास से भस्माभास'** शीर्षक प्रवचन में सविस्तार बताया है, कि जीवात्मा की चेतना में **देहाभास** रूप में जीव-भाव युगों-युगान्तरों से है। यह जीव-भाव विभिन्न जन्मों में किसी नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को पहचानते ही **'देहाध्यास'** में रूपान्तरित हो जाता है। तब वह जीव अपनी सृष्टि रचने लगता है। इस प्रकार यह भी हमारा भ्रम है, कि जीवन का प्रारम्भ जन्म से या प्रारम्भारम्भ से है। क्योंकि जन्म के बाद भी कई महीनों तक हमें अपनी देह की चेतना नहीं होती। वह भी काल, अकाल है, क्योंकि कब हमने स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचाना, हम निश्चित रूप से नहीं बता सकते। जब तक हम स्वयं को नाम-रूप की उस एक देह के साथ नहीं पहचानते, तब तक हमारा कोई जगत या सृष्टि नहीं होती। देहाभास की मात्र अस्पष्ट सी अनुभूति होती है। उसी देह के दैहिक सुख-दुःख से हम प्रभावित होते हैं। भूख लगने पर रोते हैं, कोई अन्य कष्ट होने पर चिल्लाते हैं, पेट भरा होने पर खेलते हैं। इसलिए जब तक हम अपनी देह को मान्यता नहीं देंगे, कि 'मैं यह देह हूँ' तब तक हम संसार को मान्यता नहीं दे सकते। उदाहरणतः मेरे घर में एक शिशु उत्पन्न हुआ। उसके पैदा होने से पहले ही मैं उसे मान्यता दे देता हूँ, कि मेरे घर बच्चा पैदा होने वाला है, मैं पिता बनने वाला हूँ। उस शिशु को पैदा होते ही किसी की मान्यता नहीं होती। उस बच्चे ने मुझे पिता या माता नहीं माना, लेकिन मैं उसे अपना बच्चा मान लेता या लेती हूँ। किसी ने हमें अपने जीवन की कहानी सुनाई, कि जब मैं छोटा था, तो मेरे पिता चल बसे थे। हमने कहा, कि आपको बड़ा दुःख हुआ होगा, वह बोला कि नहीं, मुझे तो पता भी नहीं था। मुझे ऐसा बताया गया था, उसी आधार पर मैं कह रहा हूँ।

मैं सोदाहरण यह समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ, कि हम अपनी इन दैहिक मान्यताओं में भी कितने अधूरे हैं। एक व्यक्ति जब तीस वर्ष का था,

तो उसके घर लड़का पैदा हुआ। आज वह व्यक्ति साठ वर्ष का है तो उसके बेटे की उम्र तीस वर्ष हुई। उस बेटे का बाप कितने वर्ष का हुआ? साधारणतः लोग यही कहेंगे, कि बेटे का बाप साठ साल का है। कुछ बुद्धिमान यह सोच कर कि बेटा अगर तीस वर्ष का है, तो तीस वर्ष पहले तो वह पैदा भी नहीं हुआ था, तो उसका बाप भी, बाप रूप में तीस वर्ष का ही होगा। दोनों ही उत्तर गलत हैं। पैदा होते ही उस बच्चे ने उस व्यक्ति को अपना पिता तो नहीं बनाया था न। उस बेटे ने अपने बाप को जब पिता की मान्यता दी तब वह 3 वर्ष का था, अतः उसका पिता 27 वर्ष का है। हास्यास्पद बात है न, कि 30 वर्ष के पुत्र का पिता 27 वर्ष का है। हमारी मान्यताओं में भी भ्रम है, क्योंकि बेटे के लिए बाप 27 वर्ष का है और बाप के लिए बेटा तीस वर्ष का है।

हमारा जन्म वास्तव में तब होता है, जब हमने स्वयं को अपनी एक देह के साथ पहचाना और अपनी अवधारणा देह के रूप में की। हमारे जीवन-काल का समय वास्तव में तब से शुरू होता है। हमारे अपने शैशव-काल की अनेक घटनाएँ हमें याद नहीं आतीं, इसलिए वे हमारे लिए हुई ही नहीं होतीं। हमारे बुज़ुर्ग बताते हैं, कि जब तुम 2 साल के थे, तो घर में ऐसा हुआ था, जब स्कूल गए तो तुमने स्कूल में ऐसी-ऐसी हरकतें कीं। अतः हम तो इस मायिक जीवन में भी हर तरह से भ्रम में हैं। मानव-देह पाकर जीवन के इन सत्यों के प्रति आँखें नहीं मूँद सकते। विवाह के एक वर्ष के बाद Marriage Aniversary मनाते हैं और पत्नी की उम्र 26 वर्ष की बताते हैं। अरे ! एक वर्ष पूर्व वह आपकी पत्नी कहाँ थी, वह पैदा होते ही तो आपकी पत्नी नहीं बन गई थी न। हम Mother's Day और Father's Day भी मनाएँ, जिस दिन हमने पिता को पिता माना, माँ को अपनी माँ स्वीकार किया। **यहाँ बुद्धि हाथ खड़े कर देती है, कि 'मैं नहीं जानता, मैं कुछ नहीं जानता'। हमारी चेतना पर भ्रम के अनेक पर्दे पड़े हुए हैं और उन्हें हम हटाना ही नहीं चाहते।** जीवन को हम एक रुटीन में जीते हैं और उस रुटीन से हटना ही नहीं चाहते।

जन्म और मृत्यु के बीच के मानव-जीवन में, समय का उपयोगिता के आधार पर जो वर्गीकरण है, उसमें प्रथम, यह **सामान्य समय** है, जिसमें हमें अपने नाम-रूप की मान्यता नहीं रहती। इसलिए कोई अन्य सांसारिक मान्यता भी नहीं होती। उसमें मात्र देह के होने का आभास होता है, जिसे जीव कह नहीं सकता। जब वह कहने में आ जाए तो वह **देहाध्यास** बन जाता है और जीव समय के दूसरे आयामों में विचरने लगता है। जीवन का एक-एक क्षण ईश्वर के हाथ में है। हम नहीं जानते कि हम अमुक समय पर, अमुक परिवार में, अमुक देश-काल-गत परिस्थितियों तथा ग्रह-नक्षत्रों में पैदा क्यों हुए? अमुक स्त्री या पुरुष से हमारा विवाह क्यों होता है, विशेष प्रतिभाओं तथा गुणों-अवगुणों को लिए हमारे पृथक्-पृथक् बच्चे क्यों पैदा होते हैं? हम नहीं जानते कि हमें कब, कहाँ और कैसे मरना है। **हम यह निश्चित रूप से जानते हैं, कि ईश्वर अवश्य सब कुछ जानता है।** लेकिन उससे परामर्श लिए बिना, हम होश सम्भालते ही कुछ न कुछ करना प्रारम्भ कर देते हैं। यदि ईश्वर न बताए तो हम जो भी करते, उसके नाम से करते। कम से कम दैवीय सज़ाएँ तो न भुगतते:—

''रहम की जो न होती आदत तुम्हारी,
तो दुनिया न करती इबादत तुम्हारी,
गुनहगार गर तुमने बक्शे न होते,
तो सूनी ही रहती अदालत तुम्हारी।
गुनाह करना मेरी आदत थी,
कर के कबूल करना मेरी शराफत थी,
मैं करता गया, तुमने रोका नहीं,
मैंने समझा कि इसमें इज़ाज़त तुम्हारी।''

''हे प्रभु! तुम चाहते तो मुझे रोक सकते थे। मैं तुम्हें देख नहीं सकता था, लेकिन तुम तो मुझे देख रहे थे। यह सब कुछ तुम्हारी नज़रों के सामने ही हो रहा है। मैं गुनाहगार इसलिए घोषित किया जाता हूँ, क्योंकि मैं असमर्थ हूँ, तुम समर्थवान हो।'' इस प्रकार हम उस समर्थवान के सम्मुख हो

जाएँ। लेकिन हम तो उसे माने बिना स्वयं ही सब कुछ किए जा रहे हैं। **तो इस प्रकार ईश्वर-विमुख होकर कुछ भी करते हुए मन मर्ज़ी से हम जो समय व्यतीत करते हैं, वह निरर्थक समय होता है।**

समय के गुज़ारने के तीसरे आयाम में **नकारात्मक रूप** से हम स्वयं अपने अहं से भविष्य के लिए कृत्य करते हैं, **कि मैं ऐसा करके दिखाऊँगा।** जो हमारे द्वारा अच्छा कार्य हो जाए, उसकी डींग मारते नहीं थकते, कि मैं बहुत कुशल हूँ, मैंने करके दिखा दिया। मानव-देह प्राप्त करके हम एक क्षण भी इस तरह बरबाद नहीं कर सकते। हमारे एक-एक क्षण की निगरानी दैवीय संस्थानों द्वारा की जाती है। जब अपनी देह पर हमने अनधिकृत कब्ज़ा कर लिया और सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथ्वी, जल आदि का कोई टैक्स नहीं देते, हम छूटेंगे कैसे? इसका विपरीत इनका प्रदूषण करते हैं, तो चुपचाप तीन केस चलते हैं, जिनका वर्णन मैं कर चुका हूँ। जो कृत्य मैं भविष्य को सुनिश्चित मानकर अपने अहं से करता हूँ और सफल भी हो जाता हूँ तो मैं उसके फल का भोग कर ही नहीं सकता। क्योंकि वह प्राप्ति मुझे होनी ही थी, लेकिन अहंवश मैंने मान लिया, कि मेरे करने से यह प्राप्ति मुझे हुई है। वह प्राप्ति ही मुझे जीने नहीं देगी। इसलिए जिनके पास अधिक सुख-साधन हैं, वे अधिक विक्षिप्त रहते हैं। **दूसरी,** सज़ा यह मिलती है, कि हमारे अहं के कारण मानस में विपरीत प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रिया के कारण हमारे सामने ही कुछ ऐसा प्रकट हो जाता है, जो हमारा मरना भी दुश्वार कर देता है। जैसाकि मैं अनेक बार बता चुका हूँ, कि यदि किसी को अपने बहुत उत्तम डाक्टर होने का अहं है तो उसके घर-परिवार में कोई ऐसा रोग पैदा हो जाएगा जिसका इलाज होना ही असम्भव हो जाएगा तथा उसकी चिन्ता में वह चैन से मर भी नहीं पाएगा। हमारी Ego एक By Product बनकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है, **तीसरे** प्रारब्ध भी बनता है। जैसे ही ईश्वर-विमुख होकर अपने अहं से हम कुछ करते हैं, तो उसे कहा है—जड़ता। यह जड़-चेतन की ग्रन्थि ही प्रारब्ध है। **अतः यह नकारात्मक समय है।**

अब दुःखों से पीड़ित, भयों से ग्रसित, जीव को ईश्वर-कृपावश कभी किसी जन्म में कोई सन्त मिल जाता है। अपने कष्टों के निवारण के लिए उस सन्त की ही कृपा से यह उसके चरणों में कुछ समय बिताना शुरू कर देता है। **वहाँ से समय की सार्थकता शुरू होती है। जब दृष्टिहीन से दृष्टियुक्त होने के लिए हम सद्गुरु के दरबार में पहुँचते हैं और कुछ समय उसके चरणों में बैठते हैं तो यह समय सार्थक कहलाता है।** यहीं से वास्तव में मानव जीवन प्रारम्भ होता है। सद्गुरु दिशा-निर्देश करता है, हमें दृष्टि देता है, कि यह समस्त सृष्टि ईश्वर द्वारा ही निर्मित, पालित व संहारित है। तूने **'मैं' 'मैं'** करके अपने अहं से सारा खेल बिगाड़ दिया। अब तू उसके दरबार में बैठ, उसका चिन्तन-मनन कर। तुझे शान्ति मिलेगी तथा दिशा-निर्देश भी मिलेगा, कि तुझे क्या करना है। सद्गुरु द्वारा प्रेरित होकर जब हम अपने इष्ट के दरबार में बैठते हैं, तो उस समय को **विशेष समय** कहते हैं। ईश्वर के चरणों में बैठना पृथक् बात है और उसमें ध्यान लगाना पृथक् बात है। ध्यान तब लगेगा, जब ईश्वर की इच्छा होगी। **उस विशेष समय में वह समय जब ईश्वर में ध्यान लग जाता है, उसे विशिष्टतम समय कहते हैं।** इस विशिष्टतम समय में भी जब उसके प्रेम में, सिमरन व मोह में नेत्रों से अश्रु बहने लगते हैं, उस समय को **घनिष्ठतम समय** कहा जाता है। यदि ईश्वर के लिए नहीं रोएँगे तो संसार में भी रोना ही रोना है। हम सारी उम्र कलपते ही रहेंगे। यदि सांसारिक पीड़ाओं, दुःखों से बचना चाहते हैं, तो उसके दरबार में उसके लिए रोना सीख लें। **घनिष्ठतम समय** के बाद काल, **अकाल बन जाता है।**

जब हम **घनिष्ठतम समय** की स्थिति में पहुँच जाते हैं, वहाँ से **काल-चक्र चरमराना शुरू हो जाता है।** सद्गुरु जब सद्शिष्य की यह स्थिति देखता है, कि इसे ईश्वर की झलक आनी प्रारम्भ हो गई है, तो वह उसे एक तकनीक बताता है। हमारा अमृतवान **'वर्तमान'** हमेशा ही अतीत के **'भूत'** और **भविष्य** के **'भय' और 'विष'** से लदा होने के कारण भयभीत और विषपूरित हो गया था। **यदि वर्तमान, भूत और भविष्य के ऊपर हावी**

हो जाए तो भूत और भविष्य को विषरहित और अमृतयुक्त कर देगा। वर्तमान जो अमृतवान था, भूत और भविष्य लदा होने के कारण भुतहा, भयभीत और विषमय हो गया था और मैं हर प्रकार के कष्टों में घिरा हुआ था। तो मैं अमृतवान वर्तमान को भविष्य और भूत के ऊपर क्यों नहीं लाद सकता ? सद्‌गुरु इसकी तकनीक बताता है, कि बेटा जीवन **में** भविष्यों की परिकल्पनाएँ तुझे भयभीत और विषयुक्त रखेंगी। जीवन **का** एक भविष्य है जो निश्चित, दर्शित, परिलक्षित है। वह है तेरी देह की **'भस्मी'** जो जन्म-मृत्यु के काल-चक्र से बाहर है और जो सबकी एक ही है। तू उस भविष्य को वर्तमान में ढो ले, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। तेरा वह भविष्य जब तेरे सामने आएगा, तब तू नहीं रहेगा। अतः अपने जीते जी चेतन वर्तमान को उस भविष्य पर लाद दे, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ'। तो वर्तमान का अमृत, भविष्य के विष और भय को निर्मूल कर देगा। कैसे?

पंच-महाभूतों की देह का निश्चित, परिलक्षित भविष्य **'भस्मी'** जड़ है, लेकिन वह भस्मी ही प्रमाण है, कि पंच-महाभूतों की देह का कारण पंच-प्राण-पुंज देवाधिदेव महादेव हैं। देह पंच-महाभूतों के संगम में, पंच-प्राण-पुंज की छाया मात्र है, जिसका अस्तित्व देवाधिदेव महादेव ही हैं। उन प्राणों के निकल जाने पर देह भी नहीं रहती। पाँचों तत्त्व अपने-अपने रूपों में लय हो जाते हैं। यदि देह मात्र पंच-तत्त्वों की ही थी, तो पाँचों तत्त्वों के लीन हो जाने पर **'भस्मी'** कहाँ से आई? **वह पंच-प्राण-पुंज ही प्रमाण के रूप में पंच-महाभूतों की देह के पंच-महाभूतों में विलीन होने पर अवशेष 'भस्मी' के रूप में प्रत्यक्ष है।** यह भस्मी न पृथ्वी है, न जल, न वायु, न आकाश, न अग्नि। तो पंच-महाभूतों की देह का यह अवशेष पंच-प्राणों (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) के पुंज देवाधिदेव महादेव के समान निराकार, अकाल और तत्त्वातीत है। **यह भस्मी उसी प्राण-पुंज अथवा ईश्वरत्व का प्रमाण है, कि उसके न रहने पर पंच-महाभूतों की देह भी नहीं रहती।**

मानव-देह पंच-तत्त्वों से निर्मित है, जो जीवात्मा को मिली है। जीवात्मा

स्वयं पंच-प्राण-पुंज ईश्वर का अंश है, उसी की भाँति वह अविनाशी है और **'सहज-सुख-राशि'** है। उसका स्वरूप सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग, विभूतियों से युक्त है। लेकिन अज्ञानवश जीवात्मा स्वयं को देह मानकर, अपने इस ईश्वरीय स्वरूप से विमुख हो गई। वैराग को छोड़कर शेष पाँच विभूतियों को सांसारिक पदार्थों व सुख-साधनों, भौतिक शक्तियों, पुस्तकीय ज्ञान तथा इस जगत की ख्याति आदि में ढूँढने का प्रयास करने लगी। दुनिया भर के सुख-साधन, सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, धन-सम्पदा, नाम-यश मिलने पर भी तृप्त इसलिए नहीं हुई, क्योंकि यह सब इसकी स्वरूपगत विभूतियों के सम्मुख तुच्छ ही थे। **जिस प्रकार पंच-महाभूतों की देह का तत्त्वातीत तत्त्व 'भस्मी' है, उसी प्रकार पाँच विभूतियों की विभूत्यातीत विभूति 'वैराग' है।** देह का यह देहातीत तत्त्व **'भस्मी'**, पंच-महाभूतों की देह के संगम से पंच-प्राणों के निकल जाने के बाद शेष रह जाता है।

सद्गुरु के निर्देशानुसार जीवन्त वर्तमान में प्राण-पुंज के रहते हुए यह अवधारणा कर ली जाए, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ।' जन्म और मृत्यु के मध्य के काल्पनिक जीवन **में** जितने भविष्य हैं, उनकी जीव परिकल्पना ही करता है। वे भविष्य, **भय** और **विष** बनकर अमृतवान वर्तमान को ज़हरीला और भयभीत बनाए रखते हैं। सद्गुरु, सद्शिष्य की मानसिक स्थिति जाँचता है। **जीवन के जिस भी काल में उसे ईश्वरीय आनन्द की झलक मिलने लगती है, तभी वह भस्मी की अवधारणा के रूप में वैराग को धारण करने का अधिकारी होता है।** जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँधे जीवन में जितने भी कृत्य होते हैं, वे मानवीय मन और मानव-बुद्धि के सम्बन्धों का बाह्य प्रकटीकरण हैं। पिता, मन है। मन आकाश की भाँति क्षण-क्षण बदलता है और माता, बुद्धि है जो उसकी कार्यवाहक है। यह मानवीय मन वैराग को धारण नहीं कर सकता। पिता की अवधारणा माँ के गर्भ में सन्तान रूप में धारणा बनती है और गर्भ ठहरता है, (The concept of father conceives in the womb of mother as conception)

तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** हमारी देह व जीवन के समाप्त होने के बाद बनेगी। पंच-तत्त्वों की देह के रहते हुए उसकी अवधारणा की जाए। यह कल्पना नहीं है, क्योंकि यह जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों से बाहर है। **'भस्मी'** की विशेषता देखिए, यह पंच तत्त्वों की देह का निश्चित, परिलक्षित भविष्य है। लेकिन उस भस्मी का अपना कोई भविष्य नहीं है, क्योंकि तब देह ही नहीं रहती। **यदि सद्‌गुरु-कृपा से ध्यान में, देह के रहते जीवन-काल में उसकी अवधारणा कर ली जाए, कि मैं भस्मी बन गया हूँ, तो उस अवधारणा के मानस में परिपक्व होने पर इस भस्मी का भी एक निश्चित भविष्य वैराग प्रकट हो जाएगा। वैराग स्वयं में विभूत्यातीत विभूति है।** भस्मी सबकी एक ही होती है अतः आपके जीवन का जो यह भविष्य है, उसका अतीत आपकी देह नहीं हैं। जब **'भस्मी'** की अवधारणा आपके मानस में आ जाएगी, तो आपका मानस **'वैराग'** का गर्भ-धारण कर लेगा। वैराग रूपी पुत्र का बीजारोपण हो जाएगा।

पिता **'मन'** है, माता **'बुद्धि'** है, शिशु दोनों का है, परन्तु पिता की अवधारणा है और माता की धारणा है। यह शिव-शक्ति का संगम है, जिसका प्राकाट्य शिव-शक्ति के एकमात्र मानस पुत्र **जीवात्मा** के रूप में होता है। अपने इस इकलौते पुत्र के लिए ही वह निराकार सत्ता कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का समस्त साकार मायिक खेल रचती है। **जीवात्मा सद्‌गुरु-कृपा से एक नाम-रूप की देह के रहते हुए, चेतन वर्तमान में भस्मी की अवधारणा द्वारा वैराग को धारण कर अपने सद्-स्वरूप में स्थित हो जाती है, तो सद्‌गृहस्थ बन जाती है।** वहाँ से वह अपनी एक नाम-रूप की देह और उस पर आधारित समस्त जगत का आनन्द लेती है। समस्त दैहिक प्रकरण उसके लिए लीला बन जाते हैं। **अतः जीवन-काल में भस्मी की अवधारणा, कि मैं भस्मी हूँ, मानस में वैराग का बीजारोपण करती है।** वैराग रूपी शिशु के मानस रूपी गर्भ में आते ही जो देह में परिवर्तन आएँगे, वे वैराग की धारणा और उसकी उत्पत्ति से आएँगे। वैराग रूपी शिशु का मानस में जब बीजारोपण होता है, तो घर में बहुत से सुमंगल

होने लगते हैं। नृत्य, गायन, उत्सव, सारंगियाँ, ढोल, नगाड़े, तुरही आदि वाद्य-यन्त्रों के संगीत गूँजने लगते हैं। तोरण सजते हैं, सन्तों का आवागमन प्रारम्भ हो जाता है। सत्संग शुरू हो जाता है। श्रुतियाँ, स्मृतियाँ, वेद, वेदान्त, उपनिषदों की सुगन्धि से घर भर जाता है। ईश्वरीय विभूतियाँ धीरे-धीरे चरणों में आने लगती हैं। वैराग जब मानस रूपी गर्भ में बीज रूप में आता है तो उसके ये लक्षण हैं। एक दिन प्रभु-कृपा से उसकी अवधारणा परिपक्व होती है, जिसे स्वयं माँ जगदम्बा प्रमाणित करती है। **माँ जगदम्बा द्वारा उसकी पुष्टि, प्रमाणिकता व सत्यापन भी होना आवश्यक है।** इस भस्मी रूपी बीज के मानस रूपी गर्भ में आने पर और परिपक्व होकर वैराग रूप में पैदा होने पर मानव-देह में विभिन्न परिवर्तन आते हैं। काल्पनिक जीवन में यथार्थ का जामन लग जाता है और धीरे-धीरे समस्त जीवन यथार्थ हो जाता है। काल-चक्र के किसी बिन्दु पर जीव जब यह अवधारणा करता है, तो काल-चक्र का क्या होता है? व्यास की क्या भूमिका है? इसका वर्णन मैं सविस्तार करूँगा, आपकी परम एकाग्रता एवं अटल श्रद्धा वांछनीय है। यह समस्त अनुभूति का विषय है।

परिधि का कोई बिन्दु जब केन्द्र की अवधारणा कर ले, कि 'मैं केन्द्र हूँ'। परिधि का हर बिन्दु प्रारम्भ तथा अन्त का बिन्दु हो सकता है। इसीलिए इस काल-चक्र में जीवन और मृत्यु काल्पनिक हैं। परिधि का अस्तित्व केन्द्र है तथा केन्द्र का अस्तित्व परिधि में कोई बिन्दु नहीं है। वृत्त केन्द्र से बना है। वृत्त से केन्द्र-बिन्दु खोजा नहीं जा सकता। युगों-युगान्तरों से काल-चक्र में घूमते-घूमते हम त्रसित हैं, विक्षिप्त हैं, बाहर आना चाहते हैं। बाहर आने के लिए घूम रहे हैं, स्थिर होने के लिए अस्थिर हैं। परिधि असंख्य बिन्दुओं का समूह है। उसमें हम ऐसा बिन्दु ढूँढ रहे हैं, जो परिधि के बाहर है। We want to locate the centre point of the circle in any of the many points of the circumference. So we are revolving. इसी को हम कर्मठता कहते हैं। परिधि के किसी बिन्दु पर जाकर सद्गुरु-कृपा से जीव को जीवन और मृत्यु के बीच के काल-चक्र के बाहर जीवन के भविष्य **'भस्मी'** की अवधारणा

हुई। उस बिन्दु पर उसने मान लिया, कि 'मैं भस्मी हूँ' यानि मैं केन्द्र-बिन्दु हूँ। वह बिन्दु जब यह अवधारणा कर लेगा, कि 'मैं केन्द्र हूँ' तो अवधारणा के परिपक्व होते ही पूरा काल-चक्र रुक जाएगा और टूट जाएगा।

सद्‌गुरु काल-चक्र की परिधि में घूमते जीवात्मा रूपी जीव से पूछता है, कि बेटा तू क्या ढूँढ रहा है? व्यास या सद्‌गुरु के जीवन में प्रकाट्य से पहले सद्शिष्य जन्मों-जन्मान्तरों में भटकते हुए प्रभु-कृपा से जान जाता है, कि जन्म और मृत्यु की परिधि का कोई बिन्दु उसका लक्ष्य नहीं है, वह केन्द्र-बिन्दु की तलाश में है। सद्‌गुरु बताता है, कि तू जन्म-मृत्यु के काल-चक्र की परिधि में करोड़ों जन्म भी ऐसे ही घूमता रहेगा, तो भी तुझे केन्द्र नहीं मिलेगा। परिधि के हर बिन्दु का अस्तित्व केन्द्र-बिन्दु है, जो परिधि से बाहर है। परिधि का हर बिन्दु प्रारम्भ एवं अन्त दोनों का हो सकता है। हर बिन्दु दूसरे बिन्दु से आगे है और किसी दूसरे बिन्दु के पीछे है। **इस दायरे में बिन्दु बन कर घूमते हुए जीव क्या तरक्की कर सकता है?** घड़ी का काँटा एक बजे से चलकर पुनः एक पर आ जाता है। घड़ी में तीन के आगे चार है और चार के आगे ग्यारह घण्टे बाद फिर तीन है। परिधि के सारे बिन्दु कल्पना हैं, क्योंकि जन्म कल्पना है, मृत्यु भी कल्पना है। उसके बीच में सब कुछ कल्पना ही है, जो काल-चक्र है। **कल्पना ही कलपना है।** जीवन में तो तू काल्पनिक भविष्यों में ही विचरेगा, कि हे प्रभु! मेरी तरक्की हो जाए, तरक्की हो गई और फिर तू रिटायर हो गया, मर गया, तुझे क्या मिला! क्योंकि काल-चक्र की परिधि के एक बिन्दु पर उन्नति हुई तो उसके विपरीत बिन्दु पर अवनति अवश्य हो जाएगी। परिधि के हर बिन्दु का विपरीत बिन्दु भी है।

क्या हमारे मानव-जीवन का अर्थ जन्म-मृत्यु के काल्पनिक छोरों में बँध कर घड़ी की टिक्-टिक् के समान जन्म के प्रथम वर्ण **'ज'** तथा मृत्यु के प्रथम वर्ण **'मर'** के आधार पर **मर-जा, जा-मर,** ही है? हम विभिन्न देहों में **'जा-मर'** के रूप में ही धक्के खा रहे हैं। प्रत्येक दिन मात्र चार मिनट प्रभु-कृपा से इस अवधारणा में लगाने हैं, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ'। जीवन में

जितने भविष्य हैं, वे **विषैले और भयभीत भविष्य हैं,** क्योंकि उनकी सुनिश्चितता ही नहीं है। जब इस पक्के भविष्य को अपने वर्तमान में अपनी चेतनता में अवधारणा में लाएँगे, तो हमारा अमृतवान वर्तमान इस भस्मी रूपी निश्चित भविष्य पर हावी हो जाएगा। **वर्तमान के अमृत को वह 'भस्मी' सोख कर शिवमयी हो जाएगी और जीवन के समस्त भविष्यों के भय और विष को नीलकण्ठ बनकर पी लेगी। हम भविष्य के स्वामी बनकर अकाल-काल में विचरने लगेंगे।** भस्मी स्वयं में न भविष्य है, न वर्तमान है, न ही भूत है, वह काल की तीनों विधाओं से परे है।

मान लीजिए, कि हम जन्म-मृत्यु के वृत्ताकार दायरे में असंख्य बिन्दुओं के रूप में भाग रहे हैं, उसमें किसी बिन्दु पर आकर मैंने अवधारणा कर ली, कि 'मैं भस्मी या केन्द्र-बिन्दु हूँ'। भस्मी के समान केन्द्र-बिन्दु भी टस से मस नहीं होता। अब काल-चक्र रुक जाएगा। एक बिन्दु तथा विभिन्न पाँच गोलाइयाँ धारण किए **ॐ** के विभिन्न अंगों के रूप में उसके छः टुकड़े हो जाएँगे। ईश्वरीय विभूतियाँ भी छः हैं—सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग। पहला बिन्दु जिसे केन्द्र की अवधारणा हुई वह **ॐकार** का शीर्षस्थ **'वैराग'** रूपी बिन्दु (   ) बन गया। उसके पीछे के कुछ बिन्दु पहले झटका खाकर टूटेंगे और अर्द्धचन्द्र (   ) बन जाएगा। यह ऐश्वर्य है। **ॐ** में एक बिन्दु है, फिर अर्द्धचन्द्र है और शेष **ॐ** अन्य चार विभिन्न गोलाई लिए टुकड़ों का समूह है। ये शेष चार भाग सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति और ख्याति हैं। इस प्रकार काल-चक्र टूट जाएगा और जीवात्मा के अपने स्वरूप **ॐ** का प्रकाट्य हो जाएगा जो छः ईश्वरीय विभूतियों से युक्त है:—

ऊंकार बिन्दु संयुक्तम् नित्यम् ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ऊंकाराय नमो नमः।

जीवात्मा ॐ का बिन्दु है, यह बिन्दु वैराग का प्रतीक है। अर्द्धचन्द्र ऐश्वर्य का प्रतीक है। समान प्राण, ऐश्वर्य और वैराग दोनों का प्रतीक है। लेकिन जीवात्मा वैराग रूपी बिन्दु रूप में सर्वोपरि क्यों है? बिन्दु संयुक्तं

कहा, अर्द्ध-चन्द्र संयुक्तं क्यों नहीं कहा? **क्योंकि बिन्दु रूपी वैराग धारणा है, जो धर्म है। अर्द्ध-चन्द्र रूपी ऐश्वर्य धारणा व धर्म नहीं है। वैराग धारण हो गया तो ऐश्वर्य तो चरणों में आएगा ही। अर्ध-चन्द्र में तो बिन्दु हैं, लेकिन बिन्दु में अर्द्ध-चन्द्र नहीं है, बिन्दु अर्द्ध-चन्द्र से हट कर है। इस प्रकार जीवात्मा बिन्दु रूप में स्वयं सबसे पृथक् भी है और समस्त ॐ में सर्वत्र व्याप्त भी है।**

''कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः।''

अब मैं अपने इष्ट (सच्चिदानंद-स्वरूप) को चाहता हूँ। जब वैराग धारण हो जाएगा, तो यही पुरुषार्थ का दूसरा सोपान धर्म है। इसके बाद **'काम'** ईश्वरीय कामना है, जो ईश्वरीय भक्ति के रूप में प्रतिफलित होती है। हम ईश्वर को, बस मात्र अपने इष्ट को ही चाहते हैं। भगवान को हम उसकी भगवत्ता या पराशक्तियों के लिए नहीं, बल्कि भगवान के लिए चाहते हैं। भक्ति के क्रिया, संज्ञा, विशेषण और विशेष्य-विशेषण रूपी चार सोपानों से गुज़रना पड़ता है। तब माँ जगदम्बा की कृपा से एक दिन इष्ट भी हमसे प्रेम करने लगेगा। उसका अनुराग मिलने पर हम **'मोक्ष'** के अधिकारी हो जाएंगे। इस प्रकार काल-चक्र की परिधि विखण्डित होकर छः टुकड़ों में ॐकार रूप में प्रकट हो जाती है। यह ॐकार ही थी, लेकिन जब ॐकार के बिन्दु **'जीवात्मा'** ने अपने स्वरूप में वैराग को छोड़कर केवल सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति विभूतियों के लिए भागना शुरू कर दिया, तो ॐ ही कल्पित काल-चक्र बन गया। **ॐ ही सृष्टि का बीज है।** जीवात्मा कहीं जाता-आता नहीं। बस वहीं ॐकारमय हो जाता है। केन्द्र को छोड़ने के कारण ही अकाल व निराकार जीवात्मा जीव बनकर काल-चक्र में घूमता सा है।

इस काल-चक्र से बाहर आने का एक दूसरा मार्ग भी है। जीवन को काल-चक्र न मानकर एक रेखा मान लीजिए। क्योंकि व्यास वह सरल रेखा है, जो परिधि के विपरीत बिन्दुओं को केन्द्र से गुज़ार देती है। **केन्द्र-बिन्दु परिधि में है ही नहीं, वह परिधि के व्यास या Diameter में है।** व्यास

काल-चक्र नहीं है, सद्‌गुरु केन्द्र का स्वामी है, जो काल-चक्र की परिधि के सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि विपरीत बिन्दुओं को केन्द्र से जोड़ देता है। हमने बताया था, कि हमारे जीवन का आरम्भ हम जन्म से मानते हैं, लेकिन इसका भी एक आरम्भ है, **प्रारम्भारम्भ,** जब माँ के गर्भ में जीवात्मा की देह के लिए गर्भाधान हुआ। यह भ्रूणावस्था भी बिन्दु रूप में थी। व्यास रूपी रेखा के इस प्रथम बिन्दु को प्रारम्भारम्भ का **'प'** मान लीजिए। रेखा रूप में आगे बढ़िए। वह बिन्दु 9 महीने बाद **जन्म** पर पहुँचा। अब रेखा रूप में व्यास की धारणा हो गई। इसी रेखा पर आगे चलकर कहीं न कहीं केन्द्र-बिन्दु होगा। इसी लाईन में कहीं न कहीं अन्त यानि मृत्यु का बिन्दु और अन्तान्त, यानि **'भस्मी'** का बिन्दु भी होगा।

हमने रेखा खींची, प्रारम्भारम्भ यानि **'प'** से और जन्म यानि **'ज'** पर आ गई। **'ज'** और **'प'** से बना **'जप'** जप करते-करते आगे बढ़िए। जप करना बहुत आवश्यक है। आप कहेंगे, कि परिधि का हर बिन्दु प्रारम्भ का भी है और अन्त का भी है। हम उस बिन्दु को जन्म का बिन्दु न मान कर, मृत्यु का बिन्दु मानें। तो मृत्यु का **'मृ' यानि 'म'** और **'र'** ले लीजिए। प्रारम्भारम्भ का **'प'** और **'म'** एवं **'र'** तीनों वर्णों से बना **'परम'।** (परमात्मा ही परम है) **परम** का जप करिए या जप, परम का करिए। एक ही बात है। उसी लाईन में कहीं केन्द्र भी है और उस रेखा का अन्त, मृत्यु और अन्तान्त भस्मी के बिन्दु पर होगा। हमें केन्द्र भी नहीं मालूम और अन्त भी नहीं मालूम। हम उस रेखा पर परम का जप करते हुए आगे बढ़ें, उसी रेखा पर कहीं व्यास मिल जाएगा। जिसकी कृपा से किसी भी बिन्दु पर हम अन्तान्त **'भस्मी'** की अवधारणा कर लें, तो उसी बिन्दु पर **'क'** यानि केन्द्र-बिन्दु बनना शुरू हो जाएगा। कैसे? व्यास कहता है, कि तू जीवन को सरल रेखा मान ले। प्रारम्भारम्भ का एक बिन्दु **'प'** और जीवन-काल में से जन्म का एक बिन्दु **'ज'** अथवा मृत्यु का बिन्दु **'मृ'** या **'मर',** इन दोनों बिन्दुओं में परम का जप करते हुए या जप, परम का करते हुए सीधा आगे बढ़। अब दो बिन्दु तेरे पास हैं और दो अन्य बिन्दु तूने खोजने हैं।

जप करते हुए, आगे बढ़ते हुए तू अन्तान्त भस्मी के बिन्दु की अवधारणा कर ले। यदि तुझे अन्तान्त बिन्दु का मालूम चल जाए, तो उस रेखा को अन्तान्त बिन्दु तक खींच ले। **अब प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त का मध्य बिन्दु ही केन्द्र-बिन्दु होगा। जन्म और मृत्यु के बिन्दु तो कल्पना के बिन्दु थे। इन्हीं में काल-चक्र था, जो स्वयं में कल्पना थी।** लेकिन प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त के बिन्दु यथार्थ हैं, क्योंकि वह समस्त जीव-सृष्टि का एक ही है। उनमें कोई भिन्नताएँ नहीं हैं। इस प्रकार जीवन को रेखा मान कर चलने पर जिस भी बिन्दु पर भस्मी, यानि अन्तान्त की अवधारणा की, वहीं से केन्द्र-बिन्दु मिल जाएगा। इस बिन्दु से **'प'** बिन्दु का अर्द्ध-व्यास (Radius) लेकर जो परिधि होगी, वह अकाल-चक्र की होगी। वहाँ जन्म-मृत्यु समाप्त हो जाएँगे। जन्म काल्पनिक था तो **'ज'** बिन्दु हटा दें। **'क' 'प' 'अ'** तीन बिन्दु रह जाएँगे। **'क'** (केन्द्र), **'प'** (प्रारम्भारम्भ) और **'अ'** (अन्तान्त) तीनों अकाल हैं। अब यह परिधि अकाल हो गई। इस अकाल-चक्र में **'अ' 'प' 'क'** रूप में घड़ी की टिक्-टिक् जो पहले **'जा-मर, मर-जा'** कर रही थी, अब **आपका-आपका** ध्वनि प्रसारित करने लगेगी। **हे प्रभु ! सब कुछ तेरा है, तेरा है।**

अपनी चेतना में अन्तान्त, यानि भस्मी की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। यह वैराग का बीज पहले से ही जीवात्मा में था। क्योंकि जीव तो वह, देह को 'मैं' मान कर हुआ। इसीलिए **जीवात्मा के स्वरूपगत वैराग का यह बीज, देह-भाव की शुष्कता के कारण सिंचित नहीं हो पाया था।** जीवात्मा ने देहाध्यास में जीव बनकर वैराग को भूलकर अपनी ही स्वरूपगत शेष पाँच विभूतियों को बाह्य जगत के पदार्थों व सुख-साधनों में ढूँढने के लिए विभिन्न देहों के काल-चक्र की परिधियों में धक्के खाने शुरू कर दिए थे। **वैराग विभूत्यातीत विभूति है, क्योंकि चेतनता में भस्मी की अवधारणा, धारण होते ही शेष पाँचों विभूतियाँ स्वतः प्रकट होने लगती हैं।**

जन्म से पहले का एक अतीत भी है—**'प्रारम्भारम्भ'** वह मेरी भ्रूणावस्था है। मृत्यु के बाद का भविष्य है—**'अन्तान्त' मेरी 'भस्मी'।** दोनों ही निराकार

व अकाल स्थितियाँ हैं, जो सबकी समान होती हैं। **यही अकाल-काल का चक्र है।** काल-चक्र और अकाल-चक्र दोनों का केन्द्र-बिन्दु एक ही है। व्यास उस का स्वामी है, जो किसी चक्र के ठीक विपरीत बिन्दुओं को केन्द्र से गुज़ार देता है। व्यास भटकते हुए जीव रूपधारी जीवात्मा को कहता है, कि बेटा ! या तो मेरे पास आकर गोले के बिन्दु देख, ये कैसे घूम रहे हैं। (जहाँ से शुरू होते हैं, वहीं पर अन्त होते हैं) तू भी मेरी तरह केन्द्र से जुड़ कर रह। तू जिस भी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, वह तेरे लिए पहले से ही पड़ी है, तू समझता है, तेरे करने से तुझे मिलेगी। अरे ! सोच, क्या तुझे यह देह कुछ करके प्राप्त हुई है, बचपन में तेरा पालन-पोषण क्या तूने किया था। तब भी तो कोई सोच तेरे लिए सब कुछ प्रकट कर रही थी, तो तू यह सोच, कि तुझे यह मानव-देह क्यों मिली है? देह रूप में क्या मिलना है और क्या खोना है। भस्मी तेरा भविष्य है, लेकिन भस्मी का अतीत तू नहीं है। **तेरे कुल जीवन के भविष्य का अपना कोई भविष्य नहीं है, क्योंकि उस समय तू ही नहीं रहता। लेकिन यदि जीवन-काल के किसी भी वर्तमान में उसे अवधारणा में ले आए, तो उस मानसिक स्थिति में तेरे मानस में पहले से ही उपस्थित उस वैराग के बीज का सिंचन होना प्रारम्भ हो जाएगा।** जो मात्र कृपा-साध्य है। पहले तेरा हर अमृतवान वर्तमान जीवन के लिए विभिन्न भविष्यों से लदा होने के कारण **'भय'** व **'विष'** से विषैला व भयभीत हो गया था। वह वर्तमान **'भय'** और **'विष'** के अतिरिक्त कुछ नहीं था। भूत के शोक ने भी तेरे वर्तमान का अमृत सोख लिया था। वर्तमान भूतों का डेरा बना हुआ, तुझे नचा रहा था। तेरे जीवन का निश्चित भविष्य **'भस्मी'** अन्तान्त है तथा तेरे जीवन का भूत **'प्रारम्भारम्भ'** है, दोनों ही निराकार एवं अकाल हैं।

जीवन्त वर्तमान में भस्मी की अवधारणा के लिए हमारा मानस ईश्वरीय होना आवश्यक है, जिसमें वैराग का बीज पहले से ही है, लेकिन शुष्क है। जीवन-काल में किसी भी बिन्दु पर आकर मैंने भस्मी की अवधारणा की, कि 'मैं भस्मी हूँ'। भस्मी स्वयं में जड़ है, लेकिन उसकी अवधारणा मैंने अपनी चेतनता में की। अब वह भस्मी उस चेतनता में आते

ही वर्तमान के अमृत से अमृतमयी हो जाएगी। **उस अमृतमयी भस्मी में वैराग का बीज सिंचित होगा और पाँचों विभूतियाँ भी प्रकट होनी प्रारम्भ हो जाएँगी। शिव-स्वरूपा भस्मी समस्त भविष्यों के भय और विष को निगल लेगी, क्योंकि शिव नीलकण्ठ हैं, उनके कण्ठ में गरल है। शिव चेतन होकर विषपान कर लेगा और शिव के दरबार में भूत-प्रेत नाचते हैं। पहले अतीत के भूत हमें नोच रहे थे, अब हमारे लिए नाचने लगेंगे।** इस प्रकार हमारे हर वर्तमान का स्वामी शिव हो जाएगा। हम अकाल-काल में विचरण करने लगेंगे।

रेखा-रूप में केन्द्र की धारणा हो या काल-चक्र में अन्तान्त की अवधारणा, दोनों ही वैराग रूप में आपको, अकाल में ले जाएँगे और आपमें शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। भस्मी की अवधारणा होते ही आपका दिव्य-जीवन **'शिवमय'** हो जाएगा। यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(4 दिसम्बर, 2005)